

संरक्षक—श्रीयुत सेठ हरगोविंददास रामजी शाह—मुंबई.

खंड २]

जैन

[अंक १

साहित्य संशोधक

(जैन इतिहास, साहित्य, तत्त्वज्ञान आदि विषयक सचित्र पत्र)

संपादक—

मुनि श्रीजिनविजयजी (एम्. आर. ए. एस्.)

लेख सूचि

१ योग दर्शन—ले० श्रीयुत पं. सुखलालजी	...	...	...	१
२. कुरपाल सोणपाल प्रशस्ति—ले० प्रो. बनारसी दासजी जैन एम्. ए.	...	...	...	२६
३. सोमदेवसूरिकृत नीतिवाक्यामृत—ले० श्रीयुत पं. नाथूरामजी प्रेमी...	...	...	...	३६
४. कीरग्रामनो जैन शिलालेख—संपादकीय	...	...	...	५५
५. महाकवि पुष्पदंत और उनका महापुराण—ले० श्रीयुत पं. नाथूरामजी प्रेमी	...	...	...	५७
६. प्रो० ल्युमन अने आवश्यकसूत्र—ले० मुनि जि० वि०; वकील के० प्रे० मोदी	...	...	...	८१
७. स्वाध्याय—समालोचन	...	...	...	९४

प्रकाशक—

जैन साहित्य संशोधक कार्यालय.

ठि. भारत जैन विद्यालय—पूना शहर.

ज्येष्ठ, विक्रम सं. १९७९] महावीर नि. सं. २४४९ [जुलाई १९२३.

ગ્રાહક વર્ગને નિવેદન

પહેલા ટાંકાનો છેલ્લો અંક બહાર પડ્યાં પછી આજે લગભગ દોઢ વર્ષ કરતાં વધારે સમય પછી આ અંક ગ્રાહકોના હાથમાં સુકતાં અમારે ગ્રાહક વર્ગને શું નિવેદન કરવું તે કાંઈ સૂઝતું નથી. આ અંક છપાવવાની શરૂઆત સંવત્ ૧૯૭૮ ના આશ્વાત્રિજિના દિવસે થઈ હતી પણ તેની સમાપ્તિ સંવ ૧૯૭૯ ના જેઠમાં થાય છે. આટલા વધા વિલંબનાં કારણો આપી દેવાથી પણ અમને કે ગ્રાહકવર્ગને સન્તોષ થાય તેમ લાગતું નથી તેથી અમે એ સંબંધમાં ‘સૌને સર્વાર્થસાધક’ ની નીતિને અનુસરી મૂતકાલને મૂલી જવાની મલામણ કરીએ છીએ; અને ભવિષ્ય માંટ આશા આપીએ છીએ કે, હવે પછી જેમ બનશે તેમ વેળા-સર જ ગ્રાહકોના હાથમાં અંક પહુંચી જાય તેવી દરેક કોશીશ કરવામાં આવશે.

—મુનિ જિનવિજય.

જૈન સાહિત્ય સંશોધકના દ્વિતીય ટાંકામાં કેવા કેવા વિષયો આવશે તે જાણવું હોય

તો આ નીચેની નોંધ ધ્યાનપૂર્વક વાંચો

બીજા ટાંકામાં, જૈન ધર્મના પ્રાચીન ગૌરવ ઉપર અપૂર્વ પ્રકાશ પાડનારા અનેક પ્રાચીન શિલાલેખો અને તામ્રપત્રો પ્રકટ થશે.

બીજા ટાંકામાં, જૈન સંઘના સંરક્ષક જુદા જુદા ગચ્છોની પટ્ટાવલિયો પ્રસિદ્ધ થશે.

બીજા ટાંકામાં, જૈન સાહિત્યના આમૂષણમૂત ગ્રન્થોના પરિચયો અને તેની પ્રશસ્તિઓ પ્રસિદ્ધ થશે.

બીજા ટાંકામાં, જૈન અને બૌદ્ધ સાહિત્યની તુલના કરનારા પ્રૌઢ અને ગંભીર લેખો આવશે.

બીજા ટાંકામાં, મહાવાન મહાવીર દેવના નિર્વાણ સમય સંબંધી જુદા જુદા વિદ્વાનોએ લખેલા લેખોનાં ભાષાન્તરો તથા સ્વતંત્ર લેખ આવશે.

બીજા ટાંકામાં, પ્રો. વેબરની લખેલાં જન આગમોની વિસ્તૃત સમાલોચના આપવામાં આવશે.

બીજા ટાંકામાં, જૈન સાહિત્યમાં ઉલ્લિખિત પ્રાચીન સ્થળોનાં વર્ણનો આવશે.

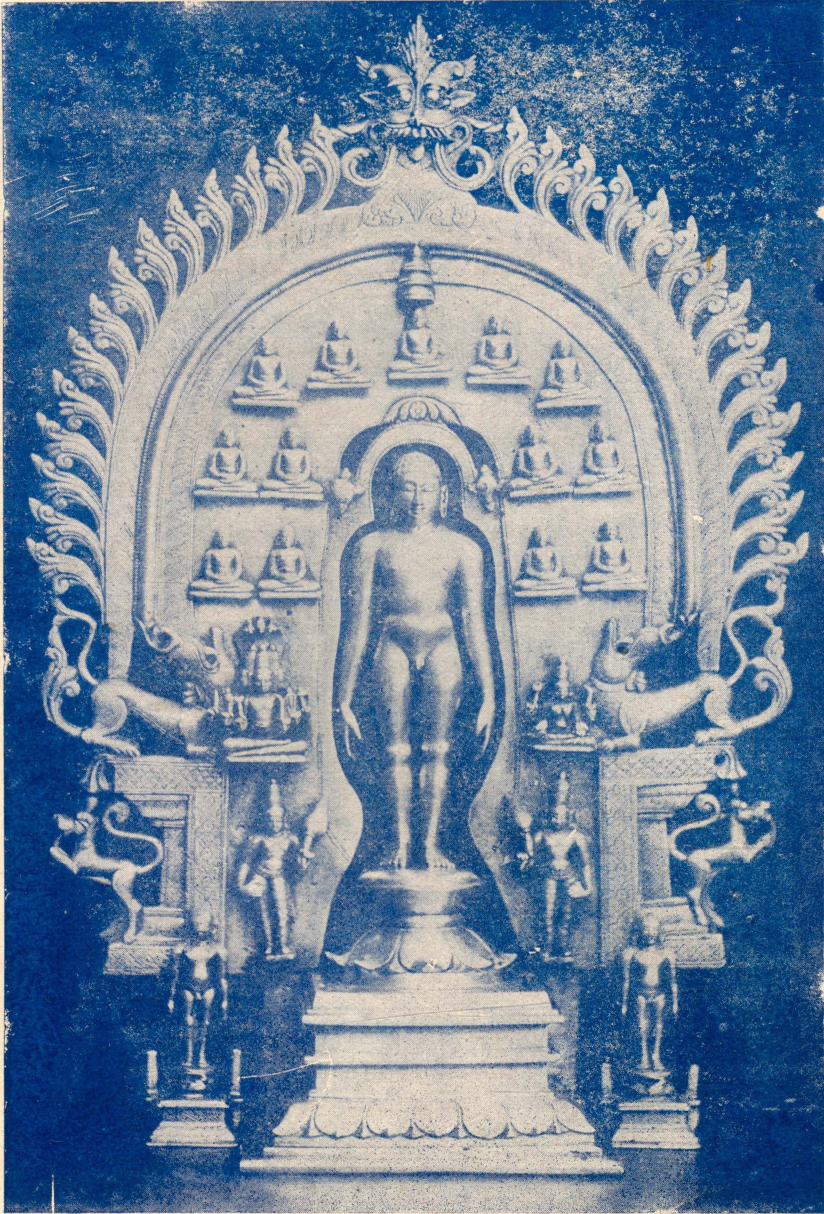
બીજા ટાંકામાં, બૌદ્ધ સાહિત્યમાં જૈનધર્મવિષયે શા શા વિચારો લખાયા છે તેના વિચિત્ર અને અજ્ઞાતપૂર્વ ઉલ્લેખો આવશે.

બીજા ટાંકામાં, જૈન સંઘમાં આજપર્યંત થઈ ગયેલા પ્રસિદ્ધ પુરુષોના પરિચયો આપવામાં આવશે.

આ સિવાય બીજા પણ અનેક નાના મોટા અપૂર્વ અપૂર્વ લેખો પ્રકટ કરવામાં આવશે અને સાથે તેવાં જ સુંદર, મનહર, દર્શનીય અને સંપ્રહણીય અનેક ચિત્રો પણ યથાયોગ્ય આપવામાં આવશે.

વઢી, આ ટાંકામાં કટેલાક ઇતિહાસિક પ્રાચીન પ્રવચ્નો, અને પટ્ટાવલિઓ પણ મૂઠા રૂપે આપવામાં આવનાર છે. ઉદાહરણ તરીકે ચેરુતુંગાચાર્ય વિરચિત વિચારશ્રેણિ; ઉપકેશગચ્છ, તપાગચ્છ, ચરતર-ગચ્છ, વૃહત્પોશાલિક ગચ્છ આદિની પટ્ટાવલિ; જુના રાસા; ચૈત્ય પરિપાટિ; તીર્થ ઝાઝા. અને વિજ્ઞાપિ ઇત્યાદિ. ઇત્યાદિ.

जैन साहित्य संशोधक



येनूर (दक्षिण कर्णाटक) स्थान स्थित मनुष्याकार दिगम्बर जैन प्रतिमा

॥ ॐ अर्हम् ॥

॥ नमोऽस्तु श्रमणाय भगवते महावीराय ॥

जै न सा हि त्य सं शो ध क

‘पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि । सच्चस्साणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ ।’

‘ जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ । ’

‘ दिट्ठं, सुयं, मयं, विण्णायं जं एत्थ परिकाहिज्जइ । ’

—निर्ग्रन्थप्रवचन—आचार्यसूत्र ।

खंड २]

हिंदी लेख विभाग.

[अंक १]

यो ग द र्श न

(लेखक:—पं. सुखलालजी न्यायाचार्य)

प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति अपरिमित शक्तियोंके तेजका पुञ्ज है, जैसा कि सूर्य । अत एव राष्ट्र तो मानों अनेक सूर्योंका मण्डल है । फिर भी जब कोई व्यक्ति या राष्ट्र असफलता या नैराश्यके भँवरमें पड़ता है तब यह प्रश्न होना सहज है कि इसका कारण क्या है ? । बहुत विचार कर देखनेसे मालूम पड़ता है कि असफलता व नैराश्यका कारण योगका (स्थिरताका) अभाव है, क्योंकि योग न होनेसे बुद्धि संदेहशील बनी रहती है, और इससे प्रयत्नकी गति अनिश्चित हो जानेके कारण शक्तियाँ इधर उधर टकरा कर आदमीको बरबाद कर देती हैं । इस कारण सब शक्तियोंको एक केन्द्रगामी बनाने तथा साध्यतक पहुँचानेके लिये अनिवार्यरूपसे सभीको योगकी जरूरत है । यही कारण है कि प्रस्तुत व्याख्यानमालामें योगका विषय रक्खा गया है ।

* भूजरात पुरातत्त्व मंदिरकी ओरसे होनेवाली आर्यविद्याव्याख्यानमालामें यह व्याख्यान पढ़ा गया था ।

इस विषयकी शास्त्रीय मीमांसा करनेका उद्देश यह है कि हमें अपने पूर्वजोंकी तथा अपनी सभ्यताकी प्रकृति ठीक मालूम हो, और तद्द्वारा आर्यसंस्कृतिके एक अंशका थोड़ा, पर निश्चित रहस्य विदित हो ।

योगदर्शन यह सामासिक शब्द है । इसमें योग और दर्शन ये दो शब्द मौलिक हैं ॥

योग शब्दका अर्थ—योग शब्द युज् धातु और षज् प्रत्ययसे सिद्ध हुवा है । युज् धातु दो है । एकका अर्थ है जोड़ना^१ और दूसरेका अर्थ है म्माधि^२—मनःस्थिरता । सामान्य रीतिसे योगका अर्थ संबन्ध करना तथा मानसिक स्थिरता करना इतना ही है, परंतु प्रसंग व प्रकरणके अनुसार उसके अनेक अर्थ हो जानेसे वह बहुरूपी बन जाता है । इसी बहुरूपिताके कारण लोकमान्यको अपने गीतारहस्यमें गीताका तात्पर्य दिखानेके लिये योगशब्दार्थनिर्णयकी विस्तृत भूमिका रचनी पड़ी है^३ । परंतु योगदर्शनमें योग शब्दका अर्थ क्या है यह बतलानेके लिये उतनी गहराईमें उतरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्यों कि योगदर्शनविषयक सभी ग्रन्थोंमें जहां कहीं योग शब्द आया है वहां उसका एक ही अर्थ है, और उस अर्थका स्पष्टीकरण उस उस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने स्वयं ही कर दिया है । भगवान् पञ्जलिने अपने योगसूत्रमें^४ चित्तवृत्तिनिरोधको ही योग कहा है, और उस ग्रन्थमें सर्वत्र योग शब्दका वही एक मात्र अर्थ विवक्षित है । श्रीमान् हरिभद्र सूरिने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थोंमें^५ मोक्ष प्राप्त कराने वाले धर्मव्यापारको ही योग कहा है; और उनके उक्त सभी ग्रन्थोंमें योग शब्दका वही एक मात्र अर्थ विवक्षित है । चित्तवृत्ति-निरोध और मोक्षप्रापक धर्मव्यापार इन दो बाक्योंके अर्थमें स्थूल दृष्टिसे देखने पर बड़ी भिन्नता मालूम होती है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर उनके अर्थकी अभिन्नता स्पष्ट मालूम हो जाती है । क्यों कि ‘चित्तवृत्तिनिरोध’ इस शब्दसे वही क्रिया या व्यापार विवक्षित है जो मोक्षके लिये अनुकूल हो और जिससे चित्तकी संसाराभिमुख वृत्तियां रुक जाती हों । ‘मोक्षप्रापक धर्मव्यापार’ इस शब्दसे भी वही क्रिया विवक्षित है । अत एव प्रस्तुत विषयमें योग शब्दका अर्थ स्वाभाविक समस्त आत्मशक्तियोंका पूर्ण विकास करानेवाली क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुख चेष्टा इतना ही समझना चाहिये^६ । योगविषयक वैदिक, जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमें योग, ध्यान, समाधि ये शब्द बहुधा समानार्थक देखे जाते हैं ।

दर्शन शब्द का अर्थ—नेत्रजन्यज्ञान,^७ निर्विकल्प (निराकार) बोध,^८ श्रद्धा,^९ मत्त^{१०} आदि अनेक अर्थ दर्शन शब्दके देखे जाते हैं । पर प्रस्तुत विषयमें दर्शन शब्दका अर्थ मत यही एक विवक्षित है ।

योगके आविष्कारका श्रेय—जितने देश और जितनी जातियोंके आध्यात्मिक महान् पुरुषोंकी जीवनकथा तथा उनका साहित्य उपलब्ध है उसको देखनेवाला कोई भी यह नहीं कह सकता है कि आध्यात्मिक विकास अमुक देश और अमुक जातिकी ही बपौती है, क्यों कि सभी देश और सभी जातियोंमें न्यूनाधिक रूपसे आध्यात्मिक विकासवाले महात्माओंके पाये जानेके प्रमाण मिलते हैं^{११} । योगका संबन्ध आध्यात्मिक विकाससे है । अत एव यह स्पष्ट है कि

१ युजुंषी योगे,—७ गण हेमचंद्र धातुपाठ. २ युजिच् समाधौ,—४ गण हेमचंद्र धातुपाठ.

३ देखो पृष्ठ ५५ से ६० । ४ पा. १ सू. २—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । ५ योगविन्दु श्लोक ३१—

अध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं समता वृत्तिसंश्रयः । मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ योगविशिका गाथा ॥ ११ ॥

६ लॉर्ड एवेवरीने जो शिक्षाकी पूर्ण व्याख्या की है वह इसी प्रकारकी है:— “ Education is the harmonious development of all our faculties.” ७ दृष्टं प्रेक्षणे—१ गण हेमचन्द्र धातुपाठ.

८ तत्त्वार्थ अध्याय २ सूत्र ६—श्लोक वार्तिक. ९ तत्त्वार्थ अध्याय १ सूत्र २. १० षड्दर्शन समुच्चय—श्लोक २—“दर्शनानि षडेवात्र” इत्यादि. ११ उदाहरणार्थ जरथोस्त, इसु, महम्मद आदि.

योगका अस्तित्व सभी देश और सभी जातियोंमें रहा है। तथापि कोई भी विचारशील मनुष्य इस बातका इनकार नहीं कर सकता है कि योगके आविष्कारका या योगको पराकाष्ठा तक पहुंचानेका श्रेय भारतवर्ष और आर्यजातिको ही है। इसका सबूतमें मुख्यतया तीन बातें पेश की जा सकती हैं। १ योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषोंकी बहुलता; २ साहित्यके आदर्शकी एकरूपता; और ३ लोकरुचि।

१. योगी, ज्ञानी, तपस्वी आदि आध्यात्मिक महापुरुषोंकी संख्या भारतवर्षमें पहिलेसे आज तक इतनी बड़ी रही है कि उसके सामने अन्य सब देश और जातियोंके आध्यात्मिक व्यक्तियोंकी कुल संख्या इतनी अल्प जान पड़ती है जितनी कि गंगाके सामने एक छोटीसी नदी।

२. साहित्यके आदर्शकी एकरूपता—तत्त्वज्ञान, आचार, इतिहास, काव्य, नाटक आदि साहित्यका कोई भी भाग लीजिये उसका अन्तिम आदर्श बहुधा मोक्ष ही होगा। प्राकृतिक दृश्य और कर्मकाण्डके वर्णनने वेदका बहुत बड़ा भाग रोका है सही, पर इसमें संदेह नहीं कि वह वर्णन वेदका शरीर मात्र है; उसकी आत्मा कुछ ओर ही है—और वह है परमात्मचिंतन या आध्यात्मिक भावोंका आविष्करण। उपनिषदोंका प्रासाद तो ब्रह्मचिन्तनकी बुनियाद पर ही खड़ा है। प्रमाणविषयक, प्रमेयविषयक कोई भी तत्त्वज्ञान संबन्धी सूत्रग्रन्थ हो; उसमें भी तत्त्वज्ञानके साध्यरूपसे मोक्षका ही वर्णन मिलेगा^१। आचारविषयक सूत्र स्मृति आदि सभी ग्रन्थोंमें आचारपालनका मुख्य उद्देश मोक्ष ही माना गया^२ है। रामायण, महाभारत आदिके मुख्य पात्रोंकी महिमा सिर्फ इस लिये नहीं कि वे एक बड़े राज्यके स्वामी थे, पर वह इस लिये है कि अंतमें वे संन्यास या तपस्याके द्वारा मोक्षके अनुष्ठानमें ही लग जाते हैं। रामचन्द्रजी प्रथम ही अवस्थामें वशिष्ठसे योग और मोक्षकी शिक्षा पा लेते^३ हैं। युधिष्ठिर भी युद्ध रस लेकर बाण शय्यापर सोये हुए भीष्मपितामहसे शान्तिका ही पाठ पढ़ते^४ हैं। गीता तो रणांगणमें भी मोक्षके एकतम साधन योगका ही उपदेश देती है। कालिदास जैसे शृंगारप्रिय कहलानेवाले कवि भी अपने मुख्य पात्रोंकी महत्ता मोक्षकी और झुकनेमें ही देखते हैं^५। जैन आगम और बौद्ध पिटक तो निवृत्तिप्रधान होनेसे मुख्यतया मोक्षके सिवाय अन्य विषयोंका वर्णन करनेमें बहुत ही संकुचाते हैं। शब्दशास्त्रमें

—१ वैशेषिकदर्शन, अ० १ सू० ४ धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। —न्यायदर्शन अ० १ सू० १ प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ सांख्यदर्शन, अ. १ अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥— वेदान्तदर्शन अ० ४, पा० ४, सू० २२ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ — जैनदर्शन तत्त्वार्थ अ० १ सू० १ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ २ याज्ञवल्क्यस्मृति अ. ३ यातिधर्मानिरूपणम्; मनुस्मृति अ. १२ श्लोक ८३. ३ देखो योगवादिष्ट. ४ देखो महाभारत—शान्तिपर्व. ५ कुमारसंभव—सर्ग ३ तथा ५ तपस्या वर्णनम्. शाकुन्तल नाटक अंक ४ कण्वोक्ति.

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यान्तिमप्रातिरथं तनयं निवेश्य।

मर्त्रा तदपितकुटुम्बभरणे सार्थं, शान्ते करिष्यासि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम् यौवने विषयैषिणाम्। वार्द्धके मुनिवृत्तीनाम् योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥८॥ सर्ग १

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूत्रवे, नृपतिकुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।

मुनिवनतरुच्छायां देव्या तथा सह शिश्रिये, गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ ७० ॥ रघुवंश. ३

भी शब्दशुद्धिको तत्त्वज्ञानका द्वार मान कर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही माना है । विशेष क्या ? कामशास्त्र तकका भी आखिरी उद्देश मोक्ष है । इस प्रकार भारतवर्षीय साहित्यका कोई भी खोत देखिये उसकी गति समुद्र जैसे अपरिमेय एक चतुर्थ पुरुषार्थकी ओर ही होगी ।

३ लोकराचि—आध्यात्मिक विषयकी चर्चावाला और खासकर योगविषयक कोई भी ग्रन्थ किसीने भी लिखा कि लोगोंने उसे अपनाया । कंगाल और दीन हीन अवस्थामें भी भारतवर्षीय लोगोंकी उक्त आभिरुचि यह सूचित करती है कि योगका सम्बन्ध उनके देश व उनकी जातिमें पहलेसे ही चला आता है । इसी कारणसे भारतवर्षकी सभ्यता अरण्यमें उत्पन्न हुई कही जाती है । इस पौत्रिक स्वभावके कारण जब कभी भारतीय लोग तीर्थयात्रा या सफरके लिये पहाड़ों, जंगलों और अन्य तीर्थस्थानोंमें जाते हैं तब वे डेरा तेंबू डालनेसे पहले ही योगियोंको, उनके मठोंको और उनके चिन्ह तकको भी ढूंढा करते हैं । योगकी श्रद्धाका उद्रेक यहां तक देखा जाता है कि किसी नंगे बाबेको गांजेकी चिलम पूंकते या जटा बढ़ाते देखा कि उसके मुंहके धुएंमें या उसकी जटा व भस्मलेपमें योगका गन्ध आने लगता है । भारतवर्षके पहाड़, जंगल और तीर्थस्थान भी बिलकुल योगिशून्य मिलना दुःसंभव है । ऐसी स्थिति अन्य देश और अन्य जातिमें दुर्लभ है । इससे यह अनुमान करना सहज है कि योगको आविष्कृत करनेका तथा पराकाष्ठा तक पहुंचानेका श्रेय बहुधा भारतवर्षको और आर्यजातिको ही है । इस बातकी पुष्टि मेक्षमूलर जैसे विदेशीय और भिन्न संस्कारी विद्वान्के कथनसे भी अच्छी तरह होती है ।²

आर्यसंस्कृतिकी जड़ और आर्यजातिका लक्षण—ऊपरके कथनसे आर्यसंस्कृतिका मूल आधार क्या है, यह स्पष्ट मालूम हो जाता है । शाश्वत जीवनकी उपादेयता ही आर्यसंस्कृतिकी भित्ति है । इसी पर आर्यसंस्कृतिके चित्रोंका चित्रण किया गया है । वर्णविभाग जैसा सामाजिक संगठन और आश्रमव्यवस्था जैसा वैयक्तिक जीवनविभाग उस चित्रणका अनुपम उदाहरण है । विद्या, रक्षण, विनिमय और सेवा ये चार जो वर्णविभागके उद्देश्य हैं, उनके प्रवाह गार्हस्थ्य जीवनरूप मैदानमें अलग अलग बह कर भी वानप्रस्थके सुहानेमें मिलकर अंतमें संन्यासाश्रमके अपरिमेय समुद्रमें एकरूप हो जाते हैं । सारांश यह है कि सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी संस्कृतियोंका निर्माण, स्थूलजीवनकी परिणामविरसता और आध्यात्मिक-जीवनकी परिणामसुन्दरता ऊपर ही किया गया है । अत एव जो विदेशीय विद्वान् आर्यजातिका लक्षण स्थूलशरीर, उसके डीलडोल, व्यापार-व्यवसाय, भाषा, आदिमें देखते हैं वे एकदेशीय मात्र हैं । खेतीबारी, जहाजखेना, पशुओंकी चराना आदि जो जो अर्थ आर्यशब्दसे निकाले गये हैं वे आर्यजातिके असाधारण लक्षण नहीं हैं । आर्यजातिका असाधारण लक्षण तो परलोकमात्रकी कल्पना भी नहीं है, क्यों कि उसकी दृष्टिमें वह लोक भी त्याज्य है । उसका सच्चा और अन्तरंग लक्षण स्थूल जगत्के उसपर वर्तमान परमात्मतत्त्वकी एकाग्रबुद्धिसे उपासना करना यही है । इस सर्वव्यापक उद्देश्यके कारण आर्यजाति अपनेको अन्य सब जातियोंसे श्रेष्ठ समझती आई है ।

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् । शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

व्याकरणात्पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति । अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥

श्रीहैमशब्दानुशासनम् अ. १ पा. १ सू. २ लघुन्यास.

२ “स्थाविरे धर्मे मोक्षं च” कामसूत्र अ. २ पृ. ११ Bombay Edition.

१ देखो कविवर टागोर कृत “साधना” पृष्ठ ४.

“Thus in India it was in the forests that our civilization had its birth.....etc”

2 This concentration of thought (एकाग्रता) or one-pointedness as the Hindus called it, is something to us almost unknown.

इत्यादि देखो. पृ. २३—वोल्युम १—सेक्रेड बुक्स ऑफ हि ईस्ट, मेक्षमूलर—प्रस्तावना.

ज्ञान और योगका संबन्ध तथा योगका दरजा—व्यवहार हो या परमार्थ, किसी भी विषयका ज्ञान तभी परिपक्व समझा जा सकता है जब कि ज्ञानानुसार आचरण किया जाय। असलमें यह आचरण ही योग है। अत एव ज्ञान योगका कारण है। परन्तु योगके पूर्ववर्ति जो ज्ञान होता है वह अस्पष्ट होता है¹। और योगके बाद होनेवाला अनुभवात्मक ज्ञान स्पष्ट तथा परिपक्व होता है। इसीसे यह समझ लेना चाहिये कि स्पष्ट तथा परिपक्व ज्ञानकी एक मात्र कुंजी योग ही है। आधिभौतिक या आध्यात्मिक कोई भी योग हो, पर वह जिस देश या जिस जातिमें जितने प्रमाणमें पुष्ट पाया जाता है उस देश या उस जातिकी विकास उतना ही अधिक प्रमाणमें होता है। सच्चा ज्ञानी वही है जो योगी है²। जिसमें योग या एकाग्रता नहीं होती वह योगवाशिष्ठकी परिभाषामें ज्ञानबन्धु है³। योगके सिवाय किसी भी मनुष्यकी उत्क्रान्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि मानसिक चंचलताके कारण उसकी सब शक्तियां एक ओर न बह कर भिन्न भिन्न विषयोंमें टकराती हैं, और क्षीण हो कर यों ही नष्ट हो जाती हैं। इसलिये क्या किसान, क्या कारीगर, क्या लेखक, क्या शोधक, क्या त्यागी सभीको अपनी नाना शक्तियोंको केन्द्रस्थ करनेके लिये योग ही परम साधन है।

व्यावहारिक और पारमार्थिक योग—योगका कलेवर एकाग्रता है, उसकी आत्मा अहंत्व ममत्वका त्याग है। जिसमें सिर्फ एकाग्रताका ही संबन्ध हो वह व्यावहारिक योग, और जिसमें एकाग्रताके साथ साथ अहंत्व ममत्वके त्यागका भी संबन्ध हो वह पारमार्थिक योग है। यदि योगका उक्त आत्मा किसी भी प्रवृत्तिमें—चाहे वह दुनियाकी दृष्टिमें बाह्य ही क्यों न समझी जाती हो—वर्तमान हो तो पारमार्थिक योग ही समझना चाहिये। इसके विपरीत स्थूलदृष्टिवाले जिस प्रवृत्तिको आध्यात्मिक समझते हों, उसमें भी यदि योगका उक्त आत्मा न हो तो उसे व्यवहारिक योग ही कहना चाहिये। यही बात गीताके साम्यगर्भित कर्मयोगमें कही गई है⁴।

योग की दो धारयाँ—व्यवहारमें किसी भी वस्तुको परिपूर्ण स्वरूपमें तैयार करनेके लिये पहले दो बातोंकी आवश्यकता होती है। जिनमें एक ज्ञान और दूसरी क्रिया है। चित्तेरेको चित्र तैयार करनेसे पहले उसके स्वरूपका, उसके साधनोंका और साधनोंके उपयोगका ज्ञान होता है, और फिर वह ज्ञान के अनुसार क्रिया भी करवा है। तभी वह चित्र तैयार कर पाता है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी मोक्षके जिज्ञासुके लिये बन्धमोक्ष, आत्मा और बन्धमोक्षके कारणोंका, तथा उनके परिहार, उपादानका ज्ञान होना जरूरी है। एवं ज्ञानानुसार प्रवृत्ति भी आवश्यक है। इसी से संक्षेपमें यह कहा गया है कि “ज्ञानक्रियाम्यां मोक्षः”। योग क्रियामार्गका नाम है। इस मार्गमें प्रवृत्त होनेसे पहले अधिकारी, आत्मा आदि आध्यात्मिक विषयोंका आरंभिक ज्ञान शास्त्रसे, सत्संगसे, या स्वयं प्रतिभा द्वारा कर लेता है। यह तत्त्वविषयक प्राथमिक ज्ञान प्रवर्तक ज्ञान कहलाता है। प्रवर्तक ज्ञान प्राथमिक दशाका ज्ञान होनेसे सबको एकाकार और एकसा नहीं हो सकता। इसीसे योगमार्गमें तथा उसके परिणामस्वरूप मोक्षस्वरूपमें तात्त्विक भिन्नता न होने पर भी योगमा—

1 इसी अभिप्रायसे गीता योगिको ज्ञानीसे अधिक कहती है। गीता अ. ६ श्लोक ४६—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ! ॥

2 गीता अ. ५ श्लोक ५—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

3 योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण, उत्तरार्ध, सर्ग २१—

व्याचष्टे यः पदं च शास्त्रं भोगाय शिष्यवत्। यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥

आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरालवेन ये। सन्तुष्टाः कष्टं चेष्टन्ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः ॥ इत्यादि।

4 अ. २ श्लोक ४—

योगस्थः कुरु कर्माणि स्रंस्तं त्यक्त्वा धनञ्जय !। सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

गर्के प्रवर्तक प्राथमिक ज्ञानमें कुछ भिन्नता अनिवार्य है। इस प्रवर्तक ज्ञानका मुख्य विषय आत्माका अस्तित्व है। आत्माका स्वतंत्र अस्तित्व माननेवालोंमें भी मुख्य दो मत हैं—पहला एकात्मवादी और दूसरा नानात्मवादी। नानात्मवादमें भी आत्माकी व्यापकता, अव्यापकता, परिणामिता, अपरिणामिता माननेवाले अनेक पक्ष हैं। पर इन वादोंको एकतरफ रख कर मुख्य जो आत्माकी एकता और अनेकताके दो वाद हैं उनके आधार पर योगमार्गकी दो धारयें हो गई हैं। अत एव योगविषयक साहित्य भी दो मार्गोंमें विभक्त हो जाता है। कुछ उपनिषदें, १ योगवाशिष्ठ, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थ एकात्मवादको लक्ष्यमें रख कर रचे गये हैं। महाभारतगत योग प्रकरण, योगसूत्र तथा जैन और बौद्ध योगग्रन्थ नानात्मवादके आधार पर रचे गये हैं।

योग और उस के साहित्य के विकास का दिग्दर्शन—आर्यसाहित्यका भाण्डार मुख्यतया तीन भागोंमें विभक्त है—वैदिक, जैन और बौद्ध। वैदिक साहित्यका प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य है। तथापि उसमें आध्यात्मिक भाव अर्थात् परमात्मचिन्तनका अभाव नहीं है^२। परमात्मचिन्तनका भाग उसमें थोड़ा है सही, पर वह इतना अधिक स्पष्ट, सुन्दर और भावपूर्ण है कि उसको ध्यानपूर्वक देखनेसे यह साफ मालूम पड़ जाता है कि तत्कालीन लोगोंकी दृष्टि केवल बाह्य न^३ थी

१ ब्रह्मविद्या, क्षुरिका, चूलिका, नादविन्दु, ब्रह्मविन्दु, अमृतविन्दु, ध्यानाविन्दु, तेजोविन्दु, शिखा, योगतत्त्व, हंस. इत्यादि।

२ देखो “ भागवताचा उपसंहार ” पृष्ठ २५२.

३ उदाहरणार्थ कुछ सूक्त दिये जाते हैं। ऋग्वेद मं. १ सू. १६४—४६—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

भाषांतरः—लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, या अग्नि कहते हैं। वह सुंदर पांखवाला दिव्य पक्षी है। एक। ही सत्का विद्वान् लोग अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं। कोई उसे अग्नि, यम या वायु भी कहते हैं।

ऋग्वेद मण्ड. ६ सू. ९—

वि मे कर्णो पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।

वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये ॥ ६ ॥

विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने ! तमसि तस्थिवांसम्। वैश्वानरोऽवतूतये नोऽमर्त्योऽवतूतये नः ॥ ७ ॥

भाषांतरः—मेरे कान विविध प्रकारकी प्रवृत्ति करते हैं। मेरे नेत्र, मेरे हृदयमें स्थित ज्योति और मेरा दूरवर्ती मन [भी] विविध प्रवृत्ति कर रहा है। मैं क्या कहूं और क्या विचार करूं ? ६। अंधकार-स्थित हे अग्नि ! तुझको अंधकारसे भय पानेवाले देव नमस्कार करते हैं। वैश्वानर हमारा रक्षण करे। अमर्त्य हमारा रक्षण करे। ७।

ऋग्वेदः—पुरुषसूक्त, मण्डल १० सू. १०

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदज्ञेनातिरोहति ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

भाषांतरः—(जो) हजार सिरवाला, हजार आंखवाला, हजार पाँववाला पुरुष (है) वह भूमिको चारों ओरसे घेर कर (फिर भी) दस अंगुल बढ कर रहा है। १। पुरुष ही यह सब कुछ है—जो भूत और जो भावि। (वह) अमृतत्वका ईश अज्ञसे बढता है। २। इतनी इसकी महिमा—इससे भी वह पुरुष अधिकतर है। सारे भूत उसके एक पाद मात्र हैं—इसके अमर तीन पाद स्वर्गमें हैं। ३

इसके सिवा उसमें ज्ञान¹, श्रद्धा², उदारता³, ब्रह्मचर्य⁴, आदि आध्यात्मिक उच्च मानसिक भावोंके चित्र भी बड़ी सूचीवाले मिलते हैं। इससे यह अनुमान करना सहज है कि उस जमानेके लोगोंका झुकाव अध्यात्मिक अवस्था था। यद्यपि ऋग्वेदमें योगशब्द अनेक स्थानोंमें आया है⁵, पर सर्वत्र उसका अर्थ प्रायः जोड़ना इतना ही है, ध्यान या समाधि अर्थ नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि पिछले योग विषयक साहित्यमें ध्यान, वैराग्य, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि जो योगप्रक्रिया-प्रसिद्ध शब्द पाये जाते हैं वे ऋग्वेदमें बिलकुल नहीं हैं। ऐसा होनेका कारण जो कुछ हो, पर यह निश्चित है कि तत्कालीन लोगोंमें ध्यानकी भी रुचि थी। ऋग्वेदका ब्रह्मस्फुरण जैसे जैसे विकसित होता गया और उपनिषदके जमानेमें उसने जैसे ही विस्तृत रूप धारण किया वैसे वैसे ध्यानमार्ग भी अधिक पुष्ट और साङ्गोपाङ्ग होता चला। यही कारण है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी समाधि अर्थमें योग ध्यान आदि शब्द पाये जाते हैं⁶। श्वेताश्वतर उपनिषदमें तो स्पष्ट रूपसे योग तथा योगोचित स्थान, प्रत्याहार, धारणा आदि योगाङ्गोंका वर्णन है⁷। मध्यकालीन और अर्वाचीन अनेक उपनिषदें तो सिर्फ योगविषयक ही

ऋग्वेदः— पु० सूक्त मं. १९ सू. १२१

हिरण्यगर्भः समवर्ततामे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।

यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

भाषांतरः—पहले हिरण्यगर्भ था। वही एत भूत मात्रका पति बना था। उसने पृथ्वी और इस आकाशको धारण किया। किस देवको हम हविसे पूजें ? १। जो आत्मा और बलको देनेवाला है। जिसका विश्व है। जिसके शासनकी देव उपासना करते हैं। अमृत और मृत्यु जिसकी छाया है। किस देवको हम हविसे पूजें ? २।

ऋग्वेद मं. १०—१२९—६ तथा ७—

को अद्वा वेद क इह प्रवोचन्कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ॥ इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्तो अद्वा वेद यदि वा न वेद ॥

भाषांतरः—कौन जानता है—कौन कह सकता है कि यह विविध सृष्टि कहाँसे उत्पन्न हुई ? देव इसके विविध सर्जनके बाद (हुवे) हैं। कोन जान सकता है कि यह कहाँसे आई ? यह विविध सृष्टि कहाँसे आई और स्थितिमें है वा नहीं है ? यह बात परम व्योममें जो इसका अध्यक्ष है वही जाने—कदाचित् वह भी न जानता हो।

१ मं. १० सू. ७१ । २ मं. १० सू. १५१ । ३ मं. ११ सू. ११७ । ४ मं. १४ सू. १०

५ मंडल १ सूक्त ३४ मंत्र ९। मं. १० सू. १६६ मं. ५। मं. १ सू. १८ मं. ७। मं. १ सू. ५ मं. ३। मं. २ सू. ८ मं. १। मं. ९ सू. ५८ मं. ३।

६ (क) तैत्तिरिय २-४। कठ २-६-११। श्वेताश्वतर २-११, ६-३। (ख) छान्दोग्य ७-६-१, ७-६-२, ७-७-१, ७-२६-१। श्वेताश्वतर १-१४। कोशीतिकि ३-२, ३-३, ३-४, ३-६।

७ श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय २—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य ।

ब्रह्मोद्भुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

प्राणान्प्रपीड्येह सयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोद्धुसीत ।

दुष्टाश्वयुक्तमिव बाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

समे शुचौ शर्करावन्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाभयादिभिः ।

मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताभ्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥ इत्यादि।

है, जिनमें योगशास्त्रकी तरह सांगोपांग योगप्रक्रियाका वर्णन है^४। अथवा यह कहना चाहिये कि ऋग्वेदमें जो परमात्मचिन्तन अंकुरायमाण था वही उपनिषदोंमें पल्लवित-पुष्पित हो कर नाना शाखा-प्रशाखाओंके साथ फल अवस्थको प्राप्त हुवा। इससे उपनिषदकालमें योगमार्गका पुष्टरूपमें पाया जाना स्वाभाविक ही है।

उपनिषदोंमें जगत, जीव और परमात्मसम्बन्धी जो तात्त्विक विचार हैं, उसको भिन्न भिन्न ऋषियोंने अपनी दृष्टिसे सूत्रोंमें ग्रथित किया, और इस तरह उस विचारको दर्शनका रूप मिला। सभी दर्शनकारोंका आखिरी उद्देश मोक्ष* ही रहा है, इससे उन्होंने अपनी अपनी दृष्टिसे तत्त्वविचार करनेके बाद भी संसारसे छुट कर मोक्ष पानेके साधनोंका निर्देश किया है। तत्त्वविचारणामें मतभेद हो सकता है, पर आचरण यानी चारित्र्य एक ऐसी वस्तु है जिसमें सभी विचारशील एकमत हो जाते हैं। विना चारित्र्यका तत्त्वज्ञान कोरी बातें हैं। चारित्र्य यह योगका किंवा योगांगोंका संक्षिप्त नाम है। अत एव सभी दर्शनकारोंने अपने अपने सूत्रग्रंथोंमें साधन रूपसे योगकी उपयोगिता अवश्य बतलाई है। यहां तक कि—न्यायदर्शन, जिसमें प्रमाण पद्धतिका ही विचार मुख्य है, उसमें भी महर्षि गौतमने योगको स्थान दिया है^१। महर्षि कणादने तो अपने वैशेषिक दर्शनमें यम, नियम, शौच आदि योगांगोंका भी महत्व गाया है^२। सांख्यसूत्रमें योगप्रक्रियाके वर्णनवाले कई सूत्र हैं^३। ब्रह्मसूत्रमें महर्षि बादरायणने तो तीसरे अध्यायका नाम ही साधन अध्याय रक्खा है, और उसमें आसन ध्यान आदि योगांगोंका वर्णन किया है^४। योगदर्शन तो मुख्यतया योगविचारका ही ग्रन्थ ठहरा, अत एव उसमें सांगोपांग योगप्रक्रियाकी मीमांसाका पाया जाना सहज ही है। योगके स्वरूपके सम्बन्धमें मतभेद न होनेके कारण और उसके प्रतिपादनका उत्तरदायित्व खासकर योगदर्शनके उपर होनेके कारण अन्य दर्शनकारोंने अपने अपने सूत्र ग्रन्थोंमें थोडासा योगविचार करके विशेष जानकारीके लिये जिज्ञासुओंको योगदर्शन देखनेकी सूचना दे दी है^५। पूर्वमीमांसामें महर्षि जैमिनिने योगका निर्देश तक नहीं किया है सो ठीक ही है, क्योंकि उसमें सकाम कर्मकाण्ड अर्थात् धूम-मार्गकी ही मीमांसा है। कर्मकाण्डकी पहुंच

४ ब्रह्मविद्योपनिषद्, धुरिकोपनिषद्, चूलकोपनिषद्, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु, योगशिखा, योगतत्त्व, हंस इत्यादि। देखो गुप्तेनकृत—Philosophy of the Upanishads

*—प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। गौ० सू० १, १, १॥—धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ वै० सू० १, १, ४॥—अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सां० द० १, १॥—पुरुषार्थज्ञानानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति। यो० सू० ४, ३३॥—अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्। ब्र. सू. ४, ४, २२॥—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थ सू० १—१ जैन० द० १॥—बौद्ध दर्शनका तीसरा निरोध नामक आर्यसत्य ही मोक्ष है।

१ समाधिविशेषाभ्यासात् ४-२-३८। अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ४-२-४२। तदर्थं यमनियमाभ्यासात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्माविध्युपायैः ४-२-४६॥

२ अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्मन्त्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय। ६-२-२। अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते, नियमाभावाद्, विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य। ६-२-८।

३ रागोपहतिर्ध्यानम् ३-३०। वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ३-३१। धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ३-३२। निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ३-३३। स्थिरसुखमासनम् ३-३४।

४ आसीनः संभवात् ४-१-७। ध्यानाच्च ४-१-८। अचलत्वं चापेक्ष्य ४-१-९। स्मरन्ति च ४-१-१०। यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ४-१-११।

५ योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। न्यायदर्शन ४-२-४६ भाष्य।

वर्तक ही है, मोक्ष उसका साध्य नहीं। और योगका उपयोग तो मोक्षके लिये ही होता है।

जो योग उपनिषदोंमें सूचित और सूत्रोंमें सूत्रित है, उसीकी महिमा गीतामें अनेक रूपसे गाई गई है। उसमें योगकी तान कभी कर्मके साथ, कभी भक्तिके साथ और कभी ज्ञानके साथ सुनाई देती है¹। उसके छोटे और तेरहवें अध्यायमें तो योगके मौलिक सब सिद्धान्त और योगकी सारी प्रक्रिया आ जाती है²। कृष्णके द्वारा अर्जुनको गीताके रूपमें योगाशिक्षा दिला कर ही महाभारत सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसके अन्त्य स्वरूप देखते हुए कहना पड़ता है कि ऐसा होना संभव भी न था। अत एव शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें योगविषयक अनेक सर्ग वर्तमान हैं, जिनमें योगकी अथेति प्रक्रियाका वर्णन पुनरुक्तिकी परवा न करके किया गया है³। उसमें ब्रह्म-शय्यापर लेटे हुए भीष्मसे बार बार पूछनेमें न तो युधिष्ठिरको ही कंटाला आता है, और न उस सुपात्र धार्मिक राजाको शिक्षा देनेमें भीष्मको ही यकावट मालूम होती है।

योगवाशिष्ठका विस्तृत महल तो योगकी ही भूमिकापर खड़ा किया गया है। उसके छह⁴ प्रकरण मानों उसके सुदीर्घ कमरे हैं, जिनमें योगसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी विषय रोचकतापूर्वक वर्णन किये गये हैं। योगकी जो जो बातें योगदर्शनमें संक्षेपमें कही गई हैं, उन्हींका विविधरूपमें विस्तार करके ग्रन्थकारने योगवाशिष्ठका कलेवर बहुत बढ़ा दिया है, जिससे यही कहना पड़ता है कि योगवाशिष्ठ योगका ग्रन्थराज है।

पुराणमें सिर्फ पुराणशिरोमणि भागवतको ही देखिये, उसमें योगका सुमधुर पद्योंमें पूरा वर्णन है⁵।

योगविषयक विविध साहित्यसे लोगोंकी रुचि इतनी परिमार्जित हो गई थी कि तान्त्रिक संप्रदायवालोंने भी तन्त्रग्रन्थोंमें योगको जगह दी, यहां तक कि योग तन्त्रका एक खासा अंग बन गया। अनेक तान्त्रिक ग्रन्थोंमें योगकी चर्चा है, पर उन सबमें महानिर्वाणतन्त्र, षट्चक्रनिरूपण आदि मुख्य हैं⁶।

1 गीताके अठारह अध्यायोंमें पहले छह अध्याय कर्मयोग प्रधान, बीचके छह अध्याय भक्तियोग प्रधान और अंतिम छह अध्याय ज्ञानयोग प्रधान हैं।

2 योगी युक्ती सततमात्मानं रहसि स्थितः। एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नाल्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥ अ० ६

3 शान्तिपर्व १९३, २१७, २४६, २५४, इत्यादि। अनुशासनपर्व ३६, २४६ इत्यादि।

4 वैराग्य, मुमुक्षुव्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण। 5 स्कन्ध ३ अध्याय २८; स्कन्ध ११—अ० १५, १९, २० आदि। 6 देखो महानिर्वाणतन्त्र ३ अध्याय। देखो षट्चक्रनिरूपण—

एक्यं जीवात्मनोराहुयोगं षोडशशरदाः। शिवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिं परे विदुः ॥ पृष्ठ ८२

Tantrik Texts में छपा हुआ।

समत्वभावनां नित्यं जीवात्मपरमात्मनोः। समाधिमाहुर्मुनयः प्रोक्तमष्टाङ्गलक्षणम् ॥ पृ० ९१,,

यदत्र नात्र निर्मसः स्तिमितोदधिबत् स्मृतम्। स्वरूपशून्यं यद् ध्यानं तत्समाधिर्विधीयते ॥ पृ० ९०,,

त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपं।

तदन्तः शून्यं तत् सकलसुरगणैः सेवितं चातिगुप्तम् ॥ पृ. ६०,,

“आहारनिर्हारविहारयोगाः सुसंवृता धर्मविदा तु कार्याः। पृ० ६१,,

धै चिन्तायाम् स्मृतो धातुश्चिन्ता तत्त्वेन निश्चला। एतद् ध्यानमिह प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा।

सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं तथा ॥ पृ० १३४,,

जब नदीमें बाढ आती है तब वह चारों ओरसे बहने लगती है। योगका यही हाल हुआ, और वह आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि बाह्य अंगोंमें प्रवाहित होने लगा। बाह्य अंगोंका भेद प्रभेद पूर्वक इतना अधिक वर्णन किया गया और उसपर इतना अधिक जोर दिया गया कि जिससे यह योगकी एक शाखा ही अलग बन गई, जो हठयोगके नामसे प्रसिद्ध है।

हठयोगके अनेक ग्रंथोंमें हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरंडसंहिता, गोरक्षपद्धति, गोरक्षशतक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुम्भक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगांगोंका पेट भर भरके वर्णन किया है; ओर घेरण्डने तो चौरासी आसनको चौरासी लाख तक पहुंचा दिया है।

उक्त हठयोगप्रधान ग्रन्थोंमें हठयोगप्रदीपिका ही मुख्य है, क्यों कि उसीका विषय अन्य ग्रन्थोंमें विस्तार रूपसे वर्णन किया गया है। योगविषयक साहित्यके जिज्ञासुओंको योगतारावली, बिन्दुयोग, योगबीज और योगकल्प-द्रुमका नाम भी भूलना न चाहिये। विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दीमें मैथिल पण्डित भवदेवद्वारा रचित योगनिबन्ध नामक हस्तलिखित ग्रन्थ भी देखनेमें आया है, जिसमें विष्णुपुराण आदि अनेक ग्रन्थोंके हवाले देकर योगसम्बन्धी प्रत्येक विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है।

संस्कृत भाषामें योगका वर्णन होनेसे सर्व साधारणकी जिज्ञासाको शान्त न देखकर लोकभाषाके योगियोंने भी अपनी जवानमें योगका आलाप करना शुरू कर दिया।

महाराष्ट्रीय भाषामें गीताकी ज्ञानदेवकृत ज्ञानेश्वरी टीका प्रसिद्ध है, जिसके छट्ठे अध्यायका भाग बड़ा ही हृदयहारी है। निःसन्देह ज्ञानेश्वरी द्वारा ज्ञानदेवने अपने अनुभव और वाणीको अवन्ध्य कर दिया है। सुहीरोबा अबिये रचित नाथसम्प्रदायानुसारी सिद्धान्तसंहिता भी योगके जिज्ञासुओंके लिये देखनेकी वस्तु है।

कबीरका बीजक ग्रन्थ योगसम्बन्धी भाषासाहित्यका एक सुन्दर मणका है।

अन्य योगी सन्तोंने भी भाषामें अपने अपने योगानुभवकी प्रसादी लोगोंको चखाई है, जिससे जनताका बहुत बड़ा भाग योगके नाम मात्रसे मुग्ध बन जाता है।

अत एव हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि प्रत्येक प्रान्तीय भाषामें पातञ्जल योगशास्त्रका अनुवाद तथा विवेचन आदि अनेक छोटे बड़े ग्रन्थ बन गये हैं। अंग्रेजी आदि विदेशीय भाषामें भी योगशास्त्रका अनुवाद आदि बहुत कुछ बन गया है¹, जिसमें बूडका भाष्यटीका सहित मूल पातञ्जल योगशास्त्रका अनुवाद विशेष उल्लेख योग्य है।

जैन सम्प्रदाय निवृत्ति-प्रधान है। उसके प्रवर्तक भगवान् महावीरने बारह सालसे अधिक समय तक मौन धारण करके सिर्फ आत्मचिन्तनद्वारा योगाभ्यासमें ही मुख्यतया जीवन बिताया। उनके हजारों शिष्य² तो ऐसे थे जिन्होंने घरबार छोड़ कर योगाभ्यासद्वारा साधुजीवन बिताना ही पसंद किया था।

जैन सम्प्रदायके मौलिक ग्रन्थ आगम कहलाते हैं। उनमें साधुचर्याका जो वर्णन है, उसको देखनेसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पांच यम; तप, स्वाध्याय आदि नियम; इन्द्रिय-जय-रूप प्रत्याहार इत्यादि जो योगके खास अङ्ग हैं, उन्हींको साधुजीवनका एक मात्र प्राण माना³ है।

1 प्रो० राजेन्द्रलाल मित्र, स्वामी विवेकानन्द, श्रीयुत रामप्रसाद आदि कृत।

2 “चउद्दसहिं समणसाहस्तीहिं छत्तीसाहिं अजिआसाहस्तीहिं” उववाहसूत्र।

3 देखो आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, मूलचार, आदि।

जैनशास्त्रमें योगपर यहां तक भार दिया गया है कि पहले तो वह मुमुक्षुओंको आत्मचित्तनके सिवाय दूसरे कार्योंमें प्रवृत्ति करनेकी संमति ही नहीं देता, और अनिवार्य रूपसे प्रवृत्ति करनी आवश्यक हो तो वह निवृत्तिमय प्रवृत्ति करनेको कहता है। इसी निवृत्तिमय प्रवृत्तिका नाम उसमें अष्टप्रवचनमाता¹ है। साधुजीवनकी दैनिक और रात्रिक चर्यामें तीसरे प्रहरके सिवाय अन्य तीनों प्रहरोंमें मुख्यतया स्वाध्याय और ध्यान करनेको ही कहा गया है²।

यह बात भूलनी न चाहिये कि जैन आगमोंमें योगअर्थमें प्रधानतया ध्यानशब्द प्रयुक्त है। ध्यानके लक्षण, भेद प्रभेद, आलम्बन आदिका विस्तृत वर्णन अनेक जैन आगमोंमें है³। आगमके बाद निर्युक्तिका नंबर है⁴। उसमें भी आगमगत ध्यानका ही स्पष्टीकरण है। वाचक उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्रमें⁵ भी ध्यानका वर्णन है, पर उसमें आगम और निर्युक्तिकी अपेक्षा कोई अधिक बात नहीं है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणका ध्यानशतक⁶ आगमादि उक्त ग्रन्थोंमें वर्णित ध्यानका स्पष्टीकरण मात्र है। यहां तकके योगविषयक जैन विचारोंमें आगमोक्त वर्णनकी शैली ही प्रधान रही है। पर इस शैलीको श्रीमान् हरिभद्रसूरिने एकदम बदलकर तत्कालिन परिस्थिति व लोकरुचीके अनुसार नवीन परिभाषा दे कर और वर्णनशैली अपूर्वसी बनाकर जैन योग—साहित्यमें नया युग उपस्थित किया। इसके सबूतमें उनके बनाये हुए योगबिन्दु, योगदृष्टीसमुच्चय, योगविंशिका, योगशतक⁷, षोडशक ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें उन्होंने सिर्फ जैन—मार्गानुसार योगका वर्णन करके ही संतोष नहीं माना है, किन्तु पातंजल योगसूत्रमें वर्णित योगप्रक्रिया और उसकी खास परिभाषाओंके साथ जैन संकेतोंका मिलान भी किया है⁸। योगदृष्टिसमुच्चयमें योगकी आठ दृष्टियोंका⁹ जो वर्णन है, वह सारे योगसाहित्यमें एक नवीन दिशा है।

श्रीमान् हरिभद्रसूरिके योगविषयक ग्रन्थ उनकी योगाभिष्टुति और योगविषयक व्यापक बुद्धिके खासे नमुने हैं।

इसके बाद श्रीमान् हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्रका नंबर आता है। उसमें पातञ्जल-योगशास्त्र-निर्दिष्ट आठ योगांगोंके क्रमसे साधु और गृहस्थजीवनकी आचार-प्रक्रियाका जैन शैलीके अनुसार वर्णन है, जिसमें आसन तथा

1 देखो उत्तराध्ययन अ० २४।

2 दिवसस्त चउरो भाए, कुज्जा भिक्खु विअक्खणो। तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥ ११॥
पढमं पोरिसि सज्जायं, विइअं झाणं शिआयइ। तइआए गोअरकालं, पुणो चउत्थिए सज्जायं ॥ १२॥
रत्तिं पि चउरो भाए, भिक्खु कुज्जा विअक्खणो। तओ उत्तरगुणे कुज्जा, राईभागेसु चउसु वि ॥ १३॥

पढमं पोरिसि सज्जायं, विइअं झाणं शिआयइ।

तइआए निहमोक्खं तु, चउत्थिए भुज्जो वि सज्जायं ॥ १८॥—उत्तराध्ययन अ० २६।

3 देखो स्थानाङ्ग अ० ४ उद्देश १। समवायाङ्ग स० ४। भगवती शतक २५—उद्देश ७। उत्तराध्ययन अ० ३०, गा० ३५। 4 देखो आवश्यकनिर्युक्ति कायोत्सर्ग अध्ययन गा. १४६२—१४८६।

5 देखो अ० ९ सू० २७ से आगे। 6 देखो हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति प्रतिक्रमणाध्ययन पृ० ५८१

7 यह ग्रन्थ जैन ग्रन्थावल्लिमें उल्लिखित है, पृ० ११३।

8 समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोऽभिधीयते। सम्यक्प्रकर्शरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥ ४१८॥

असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः। निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुबोधतः ॥ ४२०॥ इत्यादि, योगबिन्दु।

9 मित्रा तारा बला दिप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा। नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥ १३॥

इन आठ दृष्टियोंका स्वरूप, दृष्टान्त आदि विषय, योगजिज्ञासुओंके लिये देखने योग्य है। इसी विषयपर यशोविजयजीने २१, २२, २३, २४ ये चार द्वात्रिंशिकायें लिखी हैं। साथ ही उन्होंने संस्कृत न जान-नेवालोंके हितार्थ आठ दृष्टियोंकी सज्जाय भी गुजराती भाषामें बनाई है।

प्राणायामसे संबन्ध रखनेवाली अनेक बातोंका विस्तृत स्वरूप है; जिसको देखनेसे यह जान पड़ता है कि तत्कालीन लोगोंमें हठयोग-प्रक्रियाका कितना अधिक प्रचार था। हेमचन्द्राचार्यने अपने योगशास्त्रमें हरिमद्रसूरिके योगविषयक ग्रन्थोंकी नवीन परिभाषा और रोचक शैलीका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, पर शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णवगत पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत ध्यानका विस्तृत व स्पष्ट वर्णन किया है¹। अन्तमें उन्होंने स्वानुभवसे विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन ऐसे मनके चार भेदोंका वर्णन करके नवीनता लानेका भी खास कौशल दिखाया है²। निस्सन्देह उनका योगशास्त्र जैन तत्त्वज्ञान और जैन आचारका एक पाठ्य ग्रन्थ है।

इसके बाद उपाध्याय-श्रीयशोविजयकृत योगग्रन्थोंपर नजर ठहरती है। उपाध्यायजीका शास्त्रज्ञान, तर्क-कौशल और योगानुभव बहुत गम्भीर था। इससे उन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद तथा सटीक बत्तीस बत्तीसीयों योग संबन्धी विषयोंपर लिखी हैं, जिनमें जैन मन्तव्योंकी सूक्ष्म और रोचक मीमांसा करनेके उपरांत अन्य दर्शन और जैनदर्शनका मिलान भी किया है³। इसके सिवा उन्होंने हरिमद्रसूरिकृत योगविंशिका तथा षोडशकपर टीका लिख कर प्राचीन गूढ़ तत्त्वोंका स्पष्ट उद्घाटन भी किया है। इतना ही करके वे सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने महर्षि पतञ्जलिकृत योगसूत्रोंके उपर एक छोटीसी वृत्ति भी लिखी है। यह वृत्ति जैन प्रक्रियाके अनुसार लिखी हुई है, इसलिये उसमें यथासंभव योगदर्शनकी भित्ति-स्वरूप सांख्य-प्रक्रियाका जैन-प्रक्रियाके साथ मिलान भी किया है, और अनेक स्थलोंमें उसका सयुक्तिक प्रतिवाद भी किया है। उपाध्यायजीने अपनी विवेचनामें जो मध्यस्थता, गुणग्राहकता, सूक्ष्म समन्वयशक्ति और स्पष्टभाषिता दिखाई है⁴ ऐसी दूसरे आचार्योंमें बहुत कम नजर आती है⁵।

एक योगसार नामक ग्रन्थ भी श्वेताम्बर साहित्यमें है। कर्ताका उल्लेख उसमें नहीं है, पर उसके दृष्टान्त आदि वर्णनसे जान पड़ता है कि हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रके आधारपर किसी श्वेताम्बर आचार्यके द्वारा वह रचा गया है। दिगम्बर साहित्यमें ज्ञानार्णव तो प्रसिद्ध ही है, पर ध्यानसार और योगप्रदीप ये दो हस्तलिखित ग्रन्थ भी हमारे देखनेमें आये हैं, जो पद्यबन्ध और प्रमाणमें छोटे हैं। इसके सिवाय श्वेताम्बर दिगम्बर संप्रदायके योगविषयक ग्रन्थोंका कुछ विशेष परिचय जैन ग्रन्थावली पृ० १०६ से भी मिल सकता है। बस यहां तकहींमें जैन योगसाहित्य समाप्त हो जाता है।

बौद्ध सम्प्रदाय भी जैन सम्प्रदायकी तरह निवृत्तिप्रधान है। भगवान् गौतम बुद्धने बुद्धत्व प्राप्त होनेसे पहले छह वर्षतक मुख्यतया ध्यानद्वारा योगाभ्यास ही किया। उनके हजारों शिष्य भी उसी मार्ग पर चले। मौलिक बौद्धग्रन्थोंमें जैन आगमोंके समान योग अर्थमें बहुधा ध्यान शब्द ही मिलता है, और उनमें ध्यानके

1 देखो प्रकाश ७-१० तक। 2 १२ वॉ प्रकाश श्लोक २-३-४। 3 अध्यात्मसारके योगाधिकार और ध्यानाधिकारमें प्रधानतया भगवद्गीता तथा पातञ्जलसूत्रका उपयोग करके अनेक जैनप्रक्रियाप्रसिद्ध ध्यान-विषयोंका उक्त दोनों ग्रन्थोंके साथ समन्वय किया है, जो बहुत ध्यानपूर्वक देखने योग्य है। अध्यात्मोपनिषदके शास्त्र, ज्ञान, क्रिया और साम्य इन चारों योगोंमें प्रधानतया योगवाशिष्ठ तथा तैत्तिरीय उपनिषदके वाक्योंका अवतरण दे कर तात्त्विक ऐक्य बतलाया है। योगावतार बत्तीसीमें खास कर पातञ्जल योगके पदार्थोंका जैन प्रक्रियाके अनुसार स्पष्टीकरण किया है।

4 इसके लिये उनका ज्ञानसार ग्रन्थ जो उन्होंने अंतिम जीवनमें लिखा मालूम होता है वह ध्यानपूर्वक देखना चाहिए। शास्त्रवार्तासमुच्चयकी उनकी टीका (पृ० १०) भी देखनी आवश्यक है।

5 इसके लिए उनके शास्त्रवार्तासमुच्चयादि ग्रन्थ ध्यानपूर्वक देखने चाहिए, ओर खास कर उनकी पातञ्जल सूत्रवृत्ति मननपूर्वक देखनेसे हमारा कथन अक्षरशः विश्वसनीय मालूम पड़ेगा।

चार भेद नजर आते हैं। उक्त चार भेदके नाम तथा भाव प्रायः वही हैं, जो जैनदर्शन तथा योगदर्शनकी प्रक्रियामें हैं¹। बौद्ध संप्रदायमें समाधि राज नामक ग्रन्थ भी है। वैदिक, जैन और बौद्ध संप्रदायके योगविषयक साहित्यका हमने बहुत संक्षेपमें अत्यावश्यक परिचय कराया है, पर इसके विशेष परिचयके लिये—कंट्लोगस् कंट्रोलगॉरम्², वो० १ पृ० ४७७ से ४८१ पर जो योगविषयक ग्रन्थोंकी नामावलि है वह देखने योग्य है।

यहां एक बात खास ध्यान देनेके योग्य है, वह यह कि यद्यपि वैदिक साहित्यमें अनेक जगह हठयोगकी प्रथाको अग्राह्य कहा है³, तथापि उसमें हठयोगकी प्रधानतावाले अनेक ग्रन्थोंका और मार्गोंका निर्माण हुआ है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्यमें हठयोगने स्थान नहीं पाया है, इतना ही नहीं, बल्कि उसमें हठयोगका स्पष्ट निषेध भी किया है⁴।

1. सो खो अहं ब्राह्मण विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मोहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसु खं पढमज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं संपसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; पीतिया च विरागा उपेक्खको च विहासिं; सतो च संपज्जानो सुखं च कायेन पटिसंवेदेसिं, यं तं अरिया आचिक्खन्ति—उपेक्खको सतिमा सुखविहारीऽति तति-यज्झानं उपसंपज्ज विहासिं; सुखस्स च पहाणा दुक्खस्स च पहाणा पुब्बऽव सोमनस्स दोमनस्सानं अत्थंगमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासति पारिसुद्धिं चतुत्थज्झानं उपसंपज्ज मज्झिमनिकाये भयमेक्खसुत्तं विहासिं।

इन्हीं चार ध्यानोंका वर्णन दीधनिकाय सामञ्जकफलसुत्तमें है। देखो प्रो. सि. वि. राजवाडे कृत मराठी अनुवाद पृ. ७२।

यही विचार प्रो. धर्मानंद कौशाम्बी लिखित बुद्धलीलासारसंग्रहमें है। देखो पृ १२८।

जैनसूत्रमें शुक्लध्यानके भेदोंका विचार है, उसमें उक्त सवितर्क आदि चार ध्यान जैसा ही वर्णन है। देखो तत्त्वार्थ अ० ९ सू० ४१—४४।

योगशास्त्रमें संप्रज्ञात समाधि तथा समापत्तिओंका वर्णन है। उसमें भी उक्त सवितर्क निर्वितर्क आदि ध्यान जैसा ही विचार है। पा. सू. पा. १-१७, ४२, ४३, ४४।

2 थिआडोर आउफ्रेटकृत, लिप्पिगमें प्रकाशित १८९१ की आवृत्ति।

3 उदाहरणार्थः—

सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये। चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥ ३७ ॥

विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम्। ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं विसतन्ततुभिः ॥ ३८ ॥

चित्तं चित्तस्य वाऽदूरं सांस्थितं स्वशरीरकम्। साधयान्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान्हतान् विदुः ॥ ३९ ॥

योगवाशिष्ठ—उपशम प्र० सर्ग ९२.

4 इसके उदाहरणमें बौद्ध धर्ममें बुद्ध भगवान् ने तो शुरूमें कष्टप्रधान तपस्याका आरंभ करके अंतमें मध्यमप्रतिपदा मार्गका स्वीकार किया है—देखो बुद्धलीलासारसंग्रह.

जैनशास्त्रमें श्रीभद्रबाहुस्वामिने आवश्यकनिर्युक्तिमें “ऊसासं ण णिरुंभइ” १५२० इत्यादि उक्तिसे हठयोगका ही निराकरण किया है। श्रीहेमचन्द्राचार्यने भी अपने योगशास्त्रमें

“तज्जामोति मनःस्वास्थ्यं प्राणायामैः कदार्थितं। प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यात् चित्तविप्लवः ॥” इत्यादि उक्तिसे उसी बातको दोहराया है। श्रीयशोविजयजीने भी पातञ्जलयोगसूत्रकी अपनी वृत्तिमें (१-३४) प्राणायामको योगका अनिश्चित साधन कह कर हठयोगका ही निरसन किया है।

योगशास्त्र—ऊपरके वर्णनसे मालूम हो जाता है कि—योगप्राक्रियाका वर्णन करनेवाले छोटे बड़े अनेक ग्रन्थ हैं। इन सब उपलब्ध ग्रन्थोंमें महर्षि—पतञ्जलिकृत योगशास्त्रका आसन ऊँचा है। इसके तीन कारण हैं—१ ग्रन्थकी संक्षिप्तता तथा सरलता, २ विषयकी स्पष्टता तथा पूर्णता, ३ और मध्यस्थभाव तथा अनुभवसिद्धता यही कारण है कि योगदर्शन यह नाम सुनते ही सहसा पातञ्जल योगसूत्रका स्मरण हो आता है। श्रीशंकराचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें योगदर्शनका प्रतिवाद करते हुए जो “अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः” ऐसा उल्लेख किया है^१, उससे इस बातमें कोई संदेह नहीं रहता कि उनके सामने पातञ्जल योगशास्त्रसे भिन्न दूसरा कोई योगशास्त्र रहा है। क्यों कि पातञ्जल योगशास्त्रका आरम्भ “अथ योगानुशासनम्” इस सूत्रसे होता है, और उक्त भाष्योल्लिखित वाक्यमें भी ग्रन्थारम्भसूचक अथ शब्द है, यद्यपि उक्त भाष्यमें अन्यत्र और भी योगसम्बन्धी दो उल्लेख हैं^२ जिनमें एक तो पातञ्जल योगशास्त्रका संपूर्ण सूत्र ही है^३ और दूसरा उसका अविकल सूत्र नहीं, किन्तु उसके सूत्रसे मिलता जुलता है^४। तथापि “अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः” इस उल्लेखकी शब्दरचना और स्वतन्त्रताकी और ध्यान देनेसे यही कहना पड़ता है कि पिछले दो उल्लेख भी उसी भिन्न योगशास्त्रके होने चाहिये, जिसका अंश “अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः” यह वाक्य माना जाय। अस्तु, जो कुछ हो, आज हमारे सामने तो पतञ्जलिका ही योगशास्त्र उपस्थित है, और वह सर्वप्रिय है; इसलिये बहुत संक्षेपमें भी उसका बाह्य तथा आन्तरिक परिचय कराना अनुपयुक्त न होगा।

इस योगशास्त्रके चार पद और कुल १९५ सूत्र हैं। पहले पादका नाम समाधि, दूसरेका साधन, तीसरेका विभूति, और चौथेका कैवल्यपाद है। प्रथमपादमें मुख्यतया योगका स्वरूप, उसके उपाय और चित्तस्थिरताके उपायोंका वर्णन है। दूसरे पादमें क्रियायोग, आठ योगाङ्ग, उनके फल तथा चतुर्व्यूहका^५ मुख्य वर्णन है ॥

तीसरे पादमें योगजन्य विभूतियोंके वर्णनकी प्रधानता है। और चौथे पादमें परिणामवादके स्थापन, विशानवादके निराकरण तथा कैवल्य अवस्थाके स्वरूपका वर्णन मुख्य है। महर्षि पतञ्जालिने अपने योगशास्त्रकी नींव सांख्यसिद्धान्तपर डाली है। इसलिये उसके प्रत्येक पादके अन्तमें “योगशास्त्रे सांख्यप्रवचने” इत्यादि उल्लेख मिलता है। “सांख्यप्रवचने” इस विशेषणसे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि सांख्यके सिवाय अन्यदर्शनके सिद्धांतोंके आधारपर भी रचे हुए योगशास्त्र उस समय

१ ब्रह्मसूत्र २-१-३ भाष्यगत।

२ “स्वाध्यासादिष्टदेवतासंभ्रयोगः” ब्रह्मसूत्र १-३-३३ भाष्यगत। योगशास्त्रप्रसिद्धाः मनसः पञ्च कृतयः परिग्रह्यन्ते, “प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रासंभूतयः नाम” २-४-१२ भाष्यगत।

३ वासुदेव शास्त्री अभ्यंकरने अपने ब्रह्मसूत्रके मराठी अनुवादके परिशिष्टमें उक्त दो उल्लेखोंका योगसूत्ररूपसे निर्देश किया है, पर “अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः” इस उल्लेखके संबंधमें कहीं भी उहापोह नहीं किया है।

४ मित्राओ पा. २ सू. ४४। ५ मित्राओ पा. १ सू. ६।

५ हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय ये चतुर्व्यूह कहलाते हैं। इनका वर्णन सूत्र १६-२६ तकमें है।

मौजुद थे या रचे जाते थे। इस योगशास्त्रके ऊपर अनेक छोटे बड़े टीका ग्रन्थ¹ हैं, पर व्यासकृत भाष्य और वाचस्पतिकृत टीकासे उसकी उपादेयता बहुत बढ़ गई है।

सब दर्शनोंके अन्तिम साध्यके सम्बन्धमें विचार किया जाय तो उसके दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम पक्षका अन्तिम साध्य शाश्वत सुख नहीं है। उसका मानना है कि मुक्तिमें शाश्वत सुख नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, उसमें जो कुछ है वह दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही। दूसरा पक्ष शाश्वतिक सुखलाभको ही मोक्ष कहता है। ऐसा मोक्ष हो जानेपर दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति आप ही आप हो जाती है। वैशेषिक नैयायिक², सांख्य³, योग⁴, और बौद्धदर्शन⁵ प्रथम पक्षके अनुगामी हैं। वेदान्त⁶ और जैनदर्शन⁷, दूसरे पक्षके अनुगामी हैं।

योगशास्त्रका विषय-विभाग उसके अन्तिमसाध्यानुसार ही है। उसमें गौण मुख्य रूपसे अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, पर उन सबका संक्षेपमें वर्गीकरण किया जाय तो उसके चार विभाग हो जाते हैं। १ हेय, २ हेय-हेतु, ३ हान, ४ हानोपाय। यह वर्गीकरण स्वयं सूत्रकारने किया है; और इसीसे भाष्यकारने योगशास्त्रको चतुर्व्यूहात्मक कहा है⁸। सांख्यसूत्रमें भी यही वर्गीकरण है। बुद्ध भगवान् ने इसी चतुर्व्यूहको आर्य-सत्य नामसे प्रसिद्ध किया है; और योगशास्त्रके आठ योगाङ्गोंकी तरह उन्होंने चौथे आर्य-सत्यके साधनरूपसे आर्य अष्टाङ्गमार्गका⁹ उपदेश किया है।

दुःख हेय है¹⁰, अविद्या हेयका कारण है¹¹, दुःखका आत्यन्तिक नाश हान है¹², और विवेक-ख्याति हानका उपाय है¹³।

उक्त वर्गीकरणकी अपेक्षा दूसरी रीतिसे भी योगशास्त्रका विषय-विभाग किया जा सकता है। जिससे कि उसके मन्तव्योंका ज्ञान विशेष स्पष्ट हो। यह विभाग इस प्रकार है—१ हाता, २ ईश्वर, ३ जगत्, ४ संसार—मोक्षका स्वरूप, और उसके कारण।

१. हाता दुःखसे लुटकारा पानेवाले द्रष्टा अर्थात् चेतनका नाम है। योग-शास्त्रमें सांख्य¹⁴

१ व्यास कृत भाष्य, वाचस्पतिकृत तत्त्ववैशारदी टीका, भोजदेवकृत राजमार्तण्ड, नागोजीभट्ट कृत वृत्ति, विश्वानामिधु कृत वार्तिक, योगचन्द्रिका, मणिप्रभा, भावागणेशीय वृत्ति, बालरामोदासीन कृत टिप्पण आदि।

२ “तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः” न्यायदर्शन १-१-२२। ३ ईश्वरकृष्णकारिका १। ४ उसमें हानतत्त्व मान कर दुःखके आत्यन्तिक नाशको ही हान कहा है। ५ बुद्ध भगवान् के तीसरे निरोध नामक आर्यसत्यका मतलब दुःख नाशसे है। ६ वेदान्त दर्शनमें ब्रह्मको सच्चिदानन्दस्वरूप माना है, इसीलिये उसमें नित्यसुखकी अभिव्यक्तिका नाम हि मोक्ष है। ७ जैन दर्शनमें भी आत्माको सुखस्वरूप माना है, इसलिये मोक्षमें स्वाभाविक सुखकी अभिव्यक्ति ही उस दर्शनको मान्य है।

८ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। पा० २ सू० १५ भाष्य।

९ सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बुद्धलीलासार संग्रह, पृ. १६०। १० “दुःखं हेयमानागतम्” २-१६ यो. सू। ११ “द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः २-१७। “तस्य हेतुरविद्या” २-२४ यो. सू।

१२ “तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्” २०-२६ यो. सू। १३ “विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः” २-२६ यो. सू। १४ “पुरुषबहुत्वं सिद्धं” ईश्वरकृष्णकारिका—१८।

वैशेषिक^१ नैयायिक, बौद्ध, जैन^२ और पूर्णप्रज्ञ (मध्व^३) दर्शनके समान द्वैतवाद अर्थात् अनेक चेतन माने गये हैं^४।

योगशास्त्र चेतनको जैन दर्शनकी तरह^५ देहप्रमाण अर्थात् मध्यमपरिमाणवाला नहीं मानता, और मध्वसम्प्रदायकी तरह अणुप्रमाण भी नहीं मानता^६ किन्तु सांख्य^७ वैशेषिक^८, नैयायिक और शांकरवेदान्तकी^९ तरह वह उसको व्यापक मानता है^{१०}।

इसी प्रकार वह चेतनको जैनदर्शनकी तरह^{११} परिणामि-नित्य नहीं मानता, और न बौद्ध दर्शनकी तरह उसको क्षणिक-अनित्य ही मानता है, किन्तु सांख्य आदि उक्त शेष दर्शनोंकी तरह^{१२} वह उसे कूटस्थ-नित्य मानता^{१३} है।

२. ईश्वरके सम्बन्धमें योगशास्त्रका मत सांख्य दर्शनसे भिन्न है। सांख्य दर्शन नाना चेतनोंके अतिरिक्त ईश्वरको नहीं मानता^{१४}, पर योगशास्त्र-सम्मत ईश्वरका स्वरूप नैयायिक-वैशेषिक आदि दर्शनोंमें माने गये ईश्वरस्वरूपसे कुछ भिन्न है। योगशास्त्रने ईश्वरको एक अलग व्यक्ति तथा शास्त्रोपदेशक माना है सही, पर उसने नैयायिक आदिकी तरह ईश्वरमें नित्यज्ञान, नित्यईच्छा और नित्यकृतिका सम्बन्धन मान कर इसके स्थानमें

१ “व्यवस्थातो नाना” ३-२-२०. वैशेषिकदर्शन। २ “पुद्गलजीवास्त्वेकद्रव्याणि” ५-५. तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य।

३ जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा। जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥

मिथश्च जडभेदो यः प्रपञ्चो भेदपञ्चकः। सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात्॥

—सर्वदर्शनसंग्रह पूर्णप्रज्ञदर्शन।

४ “कृतार्थे प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्” २-२२ यो. सू.। ५ असंख्येयभागादिषु जीवानाम्”। १५। “प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्” १६-तत्त्वार्थसूत्र अ० ५।

६ देखो “उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्”। ब्रह्मसूत्र २-३-१८ पूर्णप्रज्ञ भाष्य। तथा मिलान करो अभ्यंकरशास्त्री कृत मराठी शांकरभाष्य अनुवाद भा. ४ पृ. १५३ टिप्पण ४६।

७ “निष्क्रियस्य तदसम्भवात्” सां. सू. १-४९, निष्क्रियस्य-विभोः पुरुषस्य गत्यसम्भवात्-भाष्य विज्ञानभिक्षु।

८ विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा।” ७-१-२२-वै. द.। ९ देखो ब्र. सू. २-३-२९. भाष्य।

१० इसलिये कि योगशास्त्र आत्मस्वरूपके विषयमें सांख्यसिद्धान्तानुसारी है।

११ “नित्यावस्थितान्यरूपाणि” ३। “उत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्तं सत्”। २९। “तद्भावाव्ययं नित्यम् ३०। तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ भाष्य सहित.

१२ देखो ई० कृ० कारिका ६३ सांख्यतत्त्वकौमुदी। देखो न्यायदर्शन ४-१-१०। देखो ब्रह्मसूत्र २-१-१४। २-१-२७; शांकरभाष्य सहित।

१३ देखो योगसूत्र. “सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्य अपरिणामित्वात्” ४-१८। “चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाऽकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्” ४-२२। तथा “द्वयी चेयं नित्यता, कूटस्थनित्यता, परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्” इत्यादि ४-३३ भाष्य।

१४ देखो सांख्यसूत्र १-९२ आदि।

सत्त्वगुणका परमप्रकर्ष मान कर तद्द्वारा जगत्उद्धारादिकी सब व्यवस्था घटा दी है ।

३ योगशास्त्र दृश्य जगत्को न तो जैन, वैशेषिक, नैयायिक दर्शनोंकी तरह परमाणुका परिणाम मानता है, न शांकरवेदान्त दर्शनकी तरह ब्रह्मका विवर्त या ब्रह्मका परिणाम ही मानता है, और न बौद्धदर्शनकी तरह शून्य या विशान्यत्मक ही मानता है; किन्तु सांख्य दर्शनकी तरह वह उसको प्रकृतिका परिणाम तथा अनादि—अनन्त—प्रवाहस्वरूप मानता है ।

४ योगशास्त्रमें वासना क्लेश और कर्मका नाम ही संसार है, तथा वासनादिका अभाव अर्थात् चेतनके स्वरूपावस्थानका नाम मोक्ष^२ है । उसमें संसारका मूल कारण अविद्या और मोक्षका मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन अर्थात् योगजन्य विवेकख्याति माना गया है ।

महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता—यह पहले कहा जा चुका है कि सांख्य सिद्धान्त और उसकी प्रक्रियाको ले कर पतञ्जलिने अपना योगशास्त्र रचा है, तथापि उनमें एक ऐसी विशेषता अर्थात् दृष्टिविशालता नजर आती है जो अन्य दार्शनिक विद्वानोंमें बहुत कम पाई जाती है । इसी विशेषताके कारण उनका योगशास्त्र मानों सर्वदर्शनसमन्वय बन गया है । उदाहरणार्थ सांख्यका निरीश्वरवाद जब वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनोंके द्वारा अच्छी तरह निरस्त हो गया और साधारण लोक-स्वभावका झुकाव भी ईश्वरोपासनाकी ओर विशेष मालूम पड़ा, तब अधिकारिभेद तथा रूचिविचित्रताका विचार करके पतञ्जलिने अपने योगमार्गमें ईश्वरोपासनाको भी स्थान^३ दिया, और ईश्वरके स्वरूपका उन्होंने निष्पक्ष भावसे ऐसा निरूपण^४ किया है जो सबको मान्य हो सके ।

पतञ्जलिने सोचा कि उपासना करनेवाले सभी लोगोंका साध्य एक ही है, फिर भी वे उपासनाकी भिन्नता और उपासनामें उपयोगी होनेवाली प्रतीकोंकी भिन्नताके व्यामोहमें अज्ञानवश आपस आपसमें लड़ मरते हैं, और इस धार्मिक कलहमें अपने साध्यको लोक भूल जाते हैं । लोगोंको इस अज्ञानसे हटा कर सत्-पथपर लानेके लिये उन्होंने कह दिया कि तुम्हारा मन जिसमें लगे उसीका ध्यान करो । जैसी प्रतीक तुम्हें पसंद आवे वैसी प्रतीककी^५ ही उपासना करो, पर किसी भी तरह अपना मन एकाग्र व स्थिर करो, और तद्द्वारा परमात्म-चिन्तनके सच्चे पात्र बनो । इस उदारताकी मूर्तिस्वरूप मतभेदसहिष्णु आदेशके द्वारा पतञ्जलिने सभी उपासकोंको योग-मार्गमें स्थान दिया, और ऐसा करके धर्मके नामसे होनेवाले कलहको कम कर-

१ यद्यपि यह व्यवस्था मूल योगसूत्रमें नहीं है, परन्तु भाष्यकार तथा टीकाकारने इसका उपपादन किया है । देखो पातञ्जल यो. पा. १ सू. २४ भाष्य तथा टीका ।

२ तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थानम् । १-३ योगसूत्र ।

३ “ ईश्वरप्रणिधानाद्वा ” १-३३ ।

४ “ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामुष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ” “ तत्र निरशितयं सर्वशबीजम् ” । “ पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात् ” । (१-२४, २५, २६)

५ “ यथाऽभिमतध्यानाद्वा ” १-३९ इसी भावकी सूचक महाभारतमें—

ध्यानमुत्पादयत्यत्र, सहिताबलसंश्रयात् । यथाभिमतमन्त्रेण, प्रणवाद्यं जपेत्कृती ॥

(शान्तिपर्व प्र० १९४ श्लो. २०) यह उक्ति है । और योगवाशिष्ठमें—

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात् । एकतत्त्वधुनाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

(उपशम प्रकरण सर्ग ७८ श्लो. १६ ।) यह उक्ति है ।

नेका उन्होंने सच्चा मार्ग लोगोंको बतलाया । उनकी इस दृष्टिविशालताका असर अन्य गुण-ग्राही आचार्यों-पर भी पड़ा¹, और वे उस मतभेदसहिष्णुताके तत्त्वका मर्म समझ गये ।

वैशेषिक, नैयायिक आदिकी ईश्वरविषयक मान्यताका तथा साधारण लोगोंकी ईश्वरविषयक भ्रष्टाका योगमार्गमें उपयोग करके ही पतञ्जलि चुप न रहे, पर उन्होंने वैदिकेतर दर्शनोंके सिद्धान्त तथा प्रक्रिया जो योगमार्गके लिये सर्वथा उपयोगी जान पड़ी उसका भी अपने योगशास्त्रमें बड़ी उदारतासे संग्रह किया । यद्यपि बौद्ध विद्वान् नागार्जुनके विज्ञानवाद तथा आत्मपरिणामित्ववादको युक्तिहीन समझ कर या योगमार्गमें अनुपयोगी समझ कर उसका निरसन चोथें पादमें किया² है, तथापि उन्होंने बुद्धभगवान्‌के परमप्रिय चार आर्षसत्योंका³ हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय रूपसे स्वीकार निःसंकोच भावसे अपने योगशास्त्रमें किया है ।

१ पुण्यैश्च बलिना चैव कलैः स्तोत्रैश्च शोभनैः । देवानां पूजनं श्रेयं शौचभद्रासमन्वितम् ॥
अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा । यद्विष्णो माननीया यत्सर्वं देवा महात्मनाम् ॥
सर्वान्देवान्प्रसस्यन्ति नैकं देवं समभिताः । जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥
चारिणंजीवनीचारव्याय एष सतां मतः । नान्यथात्रेष्टसिद्धिः स्वादिशेषेणादिकर्मणाम् ॥
गुणविकल्पपरिज्ञानादिशेषेऽप्येतदिष्यते । अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तथात्मनः ॥

योगविन्दु श्लो. १६-२०

जो विशेषदर्शी होते हैं, वे तो कीसी प्रतीक विशेष या उपासना विशेषको स्वीकार करते हुए भी अन्य प्रकारकी प्रतीक माननेवालों या अन्य प्रकारकी उपासना करनेवालोंसे द्वेष नहीं रखते, पर जो धर्माभिमानी प्रथमाधिकारी होते हैं वे प्रतीकभेद या उपासनाभेदके व्यामोहसे ही आपसमें लड़ मरते हैं । इस अनिष्ट तत्त्वको दूर करनेके लिये ही श्रीमद्भारविभद्रसूरिने उक्त पद्योंमें प्रथमाधिकारीके लिये सब देवोंकी उपासनाको लाभदायक बतलानेका उद्धार प्रयत्न किया है । इस प्रयत्नका अनुकरण श्रीयशोविजयजीने भी अपनी “पूर्व सेवादाशिक्षिका ” “आठदृष्टियोंकी सज्जाय ” आदि ग्रन्थोंमें किया है । एकदेशीय सम्प्रदायविमिवेशी लोगोंको समझानेके लिये ‘चारिणंजीवनीचार’ न्यायका उपयोग उक्त दोनों आचार्योंने किया है । यह न्याय बड़ा मनोरञ्जक और शिक्षामय है ।

इस समभावसूचक दृष्टान्तका उपनय श्रीज्ञानविमलने आठदृष्टिकी सज्जाय पर किये हुए अपने गूजरती टबेमें बहुत अच्छी तरह घटाया है, जो देखने योग्य है । इसका भाव संक्षेपमें इस प्रकार है । कीसी स्त्रीने अपनी सखीसे कहा कि मेरा पति मेरे अधीन न होनेसे मुझे बड़ा कष्ट है । यह सुन कर उस आगन्तुक सखीने कोई जड़ी खिला कर उस पुरुषको बैल बना दिया, और वह अपने स्थानको चली गई । पतिके बैल बन जानेसे उसकी पत्नी दुःखित हुई, पर फिर वह पुरुषरूप बनानेका उपाय न जाननेके कारण उस बैलरूप पतिको चराया करती थी, और उसकी सेवा किया करती थी । कीसी समय अचानक एक विद्याधरके मुखसे ऐसा सुना कि अगर बैलरूप पुरुषको संजीवनी नामक जड़ी चराई जाय तो वह फिर असली रूप धारण कर सकता है । विद्याधरसे यह भी सुना कि वह जड़ी अमुक वृक्षके नीचे है । पर उस वृक्षके नीचे अनेक प्रकारकी वनस्पति होनेके कारण वह स्त्री संजीवनीको पहचाननेमें असमर्थ थी । इससे उस दुःखित स्त्रीने अपने बैलरूप-धारि पतिको सब वनस्पतियाँ चरा दीं । जिनमें संजीवनीको भी वह बैल चर गया । जैसे विशेष परीक्षा न होनेके कारण उस स्त्रीने सब वनस्पतियोंके साथ संजीवनी खिला कर अपने पतिका कृत्रिम बैलरूप छुड़ाया, और असली मनुष्यत्वको प्राप्त कराया, वैसे ही विशेष परीक्षाविकल प्रथमाधिकारी भी सब देवोंकी समभावसे उपासना करते करते योगमार्गमें विकास करके इष्ट लाभ कर सकते हैं ।

२ देखो सू० १५, १८ ।

३दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ।

जैन दर्शनके साथ योगशास्त्रका सादृश्य तो अन्य सब दर्शनोंकी अपेक्षा अधिक ही देखनेमें आता है । यह बात स्पष्ट होनेपर भी बहुतोंको विदित ही नहीं है । इसका सबब यह है कि जैनदर्शनके खास अभ्यासी ऐसे बहुत कम हैं जो उदारता पूर्वक योगशास्त्रका अवलोकन करनेवाले हों, और योगशास्त्रके खास अभ्यासी भी ऐसे बहुत कम हैं जिन्होंने जैनदर्शनका चारीकीसे ठीक ठीक अवलोकन किया हो । इसलिये इस विषयका विशेष खुलासा करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा ।

योगशास्त्र और जैनदर्शनका सादृश्य मुख्यतया तीन प्रकारका है । १ शब्दका, २ विषयका और ३ प्रक्रियाका ।

१ मूल योगसूत्रमें ही नहीं किन्तु उसके भाष्यतकमें ऐसे अनेक शब्द हैं जो जैनतर दर्शनोंमें प्रसिद्ध नहीं हैं, या बहुत कर्म प्रसिद्ध हैं, किन्तु जैन शास्त्रमें खास प्रसिद्ध हैं । जैसे—भवप्रत्यय, १ सवितर्क—सविचार—निर्विचार, २, महाव्रत, ३, कृत-कारित-अनुमोदित, ४, प्रकाशावरण, ५, सोपक्रम-निरूपक्रम, ६, वज्रसंहनन, ७, केवली, ८, कुशल, ९, ज्ञानावरणीयकर्म, १०, सम्यग्ज्ञान, ११, सम्यग्दर्शन, १२, सर्वज्ञ, १३, क्षीणक्लेश, १५, चरमदेह, १६ आदि ।

१ “ भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ” योगसू. १-१९ । “ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ” तत्त्वार्थ अ. १-२२ ।

२ ध्यानविशेषरूप अर्थमें ही जैनशास्त्रमें ये शब्द इस प्रकार हैं “ एकाग्रये सवितर्कं पूर्वं ” (तत्त्वार्थ अ. ९-४३) “ तत्र सविचारं प्रथमम् ” भाष्य “ अविचारं द्वितीयम् ” तत्त्वा० अ० ९-४४ । योगसूत्रमें ये शब्द इस प्रकार आये हैं—“ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णं सवितर्कं समापत्तिः ” “ स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपव्यत्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ” “ एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ” १-४२, ४३, ४४ ।

३ जैनशास्त्रमें मुनिसम्बन्धी पाँच यमोंके लिये यह शब्द बहुत ही प्रसिद्ध है । “ सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति तत्त्वार्थ ” अ० ७-२ भाष्य । यही शब्द उसी अर्थमें योगसूत्र २-३१ में है ।

४ ये शब्द जिस भावके लिये योगसूत्र २-३१ में प्रयुक्त हैं, उसी भावमें जैनशास्त्रमें भी आते हैं, अन्तर सिर्फ इतना है कि जैनग्रन्थोंमें अनुमोदितके स्थानमें बहुधा अनुमतशब्द प्रयुक्त होता है । देखो—तत्त्वार्थ, अ. ६-९ ।

५ यह शब्द योगसूत्र २-५२ तथा ३-४३ में है । इसके स्थानमें जैनशास्त्रमें ‘ ज्ञानावरण ’ शब्द प्रसिद्ध है । देखो तत्त्वार्थ, ६-११ आदि ।

६ ये शब्द योगसूत्र ३-२२ में हैं । जैन कर्मविषयक साहित्यमें ये शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं । तत्त्वार्थमें भी इनका प्रयोग हुआ है, देखो—अ. २-५२ भाष्य ।

७ यह शब्द योगसूत्र ३-४६ में प्रयुक्त है । इसके स्थानमें जैन ग्रन्थोंमें ‘ वज्रक्षपभनाराचसंहनन ’ ऐसा शब्द मिलता है । देखो तत्त्वार्थ० अ० ८-१२ भाष्य ।

८ योगसूत्र २-२७ भाष्य, तत्त्वार्थ अ० ६-१४ ।

९ देखो योगसूत्र २-२७ भाष्य, तथा दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथा १८६ ।

१० देखो योगसूत्र २-१६ भाष्य, तथा आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ८९३ ।

११ योगसूत्र २-२८ भाष्य, तत्त्वार्थ अ० १-१ ।

१२ योगसूत्र ४-१५ भाष्य, तत्त्वार्थ अ० १-२ ।

१३ योगसूत्र ३-४९ भाष्य, तत्त्वार्थ ३-४९ ।

१४ योगसूत्र १-४ भाष्य । जैन शास्त्रमें बहुधा ‘ क्षीणमोह ’ ‘ क्षीणकषाय ’ शब्द मिलते हैं । देखो तत्त्वार्थ अ० ९-३८ ।

१५ योगसूत्र २-४ भाष्य, तत्त्वार्थ अ० २-५२

२ प्रसुप्त, तनु आदिक्लेशावस्था^१, पाँच यम,^२ योगजन्य विभूति,^३ सोपक्रम निरुपक्रम^४ कर्मका स्वरूप, तथा उसके दृष्टान्त, अनेक कार्योंका^५ निर्माण आदि ।

१ प्रसुप्त, तनु, विछिन्न और उदार इन चार अवस्थाओंका योगसूत्र २-४ में वर्णन है । जैनशास्त्रमें वही भाव मोहनीयकर्मकी सत्ता, उपशमक्षयोपशम, विरोधिप्रकृतिके उदयादिकृत व्यवधान और उदयावस्थाके वर्णनरूपसे वर्तमान है । देखो योगसूत्र २-४ की यशोविजयकृत वृत्ति ।

२ पाँच यमोंका वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थोंमें है सही, पर उसकी परिपूर्णता “जातिदेशकाल-समयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्” योगसूत्र २-३१ में तथा दशवैकालिक अध्ययन ४ आदि जैनशास्त्रपतिपादित महाव्रतोंमें देखनेमें आती है ।

३ योगसूत्रके तीसरे पादमें विभूतियोंका वर्णन है, वे विभूतियाँ दो प्रकारकी हैं । १ वैज्ञानिक २ शारीरिक । अतीताऽनागतज्ञान, सर्वभूतरुतज्ञान, पूर्वजातिज्ञान, परचित्तज्ञान, भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, आदि ज्ञान-विभूतियाँ हैं । अन्तर्धान, हस्तिबल, परकायप्रवेश, अणिमादि ऐश्वर्य तथा रूपलावण्यादि कायसंपत् । इत्यादि शारीरिक विभूतियाँ हैं । जैनशास्त्रमें भी अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, जातिस्मरणज्ञान, पूर्वज्ञान आदि ज्ञानलब्धियाँ हैं, और आमौषधि, विप्रुडौषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वाँषधि, जंघाचारण-विद्याचारण, वैक्रिय, आहारक आदि शारीरिक लब्धियाँ हैं । देखो गा० ६९, ७० आवश्यकनिर्युक्ति लब्धि यह विभूतिका नामान्तर है ।

४ योगभाष्य और जैनग्रन्थोंमें सोपक्रम निरुपक्रम आयुष्कर्मका स्वरूप विष्कुल एकसा है, इतना ही नहीं बल्कि उस स्वरूपको दिखाते हुए भाष्यकारने यो. सू. ३-२२ के भाष्यमें आर्द्र वस्त्र और तृणराशिके जो दो दृष्टान्त लिखे हैं, वे आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा-९५६) तथा विशेषावश्यक भाष्य (गाथा-३० ६१) आदि जैनशास्त्रमें सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, पर तत्त्वार्थ (अ० -२५२) के भाष्यमें उक्त दो दृष्टान्तोंके उपरान्त एक तीसरा गणितविषयक दृष्टान्त भी लिखा है । इस विषयमें उक्त व्यासभाष्य और तत्त्वार्थभाष्यका शाब्दिक सादृश्य भी बहुत अधिक और अर्थसूचक है ।

“यथाऽऽर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेव सपिण्डितं चिरेण संशुष्येद् एवं निरुपक्रमम् । यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन वा समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम् । यथा वा स एवाऽग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम् ” योग ३-२२ भाष्य । यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति, तस्यैव क्षिप्रप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशु दाहो भवति, तद्वत् । यथा वा संख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थस्याभावो भवति, तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्त्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगयोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति ॥ किं चान्यत् । यथा वा धौतपटो जलाद्र एव संहतश्चिरेण शोषमुपयाति । स एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति । ” तत्त्वा० अ० २-५२ भाष्य ।

५ योगबलसे योगी जो अनेक शरीरोंका निर्माण करता है, उसका वर्णन योगसूत्र ४-४ में है, यही विषय वैक्रिय-आहारक-लब्धिरूपसे जैनग्रन्थोंमें वर्णित है ।

३ परिणामि—नित्यता अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूपसे त्रिरूप वस्तु मान कर तदनुसार धर्मधर्मीका विवेचन^१ इत्यादि ।

इसी विचारसमताके कारण श्रीमान् हरिभद्र जैसे जैनाचार्योंने महर्षि पतञ्जलिके प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट करके अपने योगविषयक ग्रन्थोंमें गुणग्राहकताका निर्भीक परिचय पूरे तोरसे दिया है^२, और जगह जगह पतञ्जलिके योगशास्त्रगत खास साङ्केतिक शब्दोंका जैन सङ्केतोंके साथ मिलान करके सङ्कीर्ण-दृष्टिवालोंके लिये एकताका मार्ग खोल दिया है^३ । जैन विद्वान् यशोविजयवाचकने हरिभद्रसरिसूचित एकताके मार्गको विशेष विशाल बनाकर पतञ्जलिके योगसूत्रको जैन प्रक्रियाके अनुसार समाझनेका थोडा किन्तु मार्मिक प्रयास किया है^४ । इतना ही नहीं बल्कि अपनी बत्तीसियोंमें उन्होंने पतञ्जलिके योगसूत्रगत कुछ विषयोंपर खास बत्तीसियाँ भी रची हैं^५ । इन सब बातोंको संक्षेपमें बतलानेका उद्देश्य यही है कि महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टिविशालता इतनी अधिक थी कि सभी दार्शनिक व साम्प्रदायिक विद्वान् योगशास्त्रके पास आते ही अपना साम्प्रदायिक अभिनिवेश भूल गये और एकरूपताका अनुभव करने लगे । इसमें कोई संदेह नहीं कि महर्षि पतञ्जलिकी दृष्टि-विशालता उनके विशिष्ट योगानुभवका ही फल है, क्योंकि—जब कोई भी मनुष्य शब्द ज्ञानकी प्राथमिक भूमिकासे आगे बढ़ता है तब वह शब्दकी पूँछ न खींचकर चिन्ताज्ञान तथा भावनाज्ञानके^६ उत्तरोत्तर अधिकाधिक एकतावाले प्रदेशमें अभेद आनंदका अनुभव करता है ।

आचार्य हरिभद्रकी योगमार्गमें नवीन दिशा—श्रीहरिभद्र प्रसिद्ध जैनाचार्योंमें एक हुए । उनकी बहुश्रुतता, सर्वतोमुखी प्रतिभा, मध्यस्थता और समन्वयशक्तिका पूरा परिचय करानेका यहाँ प्रसंग नहीं है । इसके लिए

१ जैनशास्त्रमें वस्तुको द्रव्यपर्यायस्वरूप माना है । इसीलिये उसका लक्षण तत्त्वार्थ (अ० ५-२९) में “ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ” ऐसा किया है । योगसूत्र (३-१३, १४) में जो धर्मधर्मीका विचार है वह उक्त द्रव्यपर्यायउभयरूपता किंवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस त्रिरूपताका ही चित्रण है । भिन्नता सिर्फ दोनोंमें इतनी ही है कि—योगसूत्र सांख्यसिद्धान्तानुसारी होनेसे “ ऋते चितिशक्तेः परिणामिनो भावाः ” यह सिद्धान्त मानकर परिणामवादका अर्थात् धर्मलक्षणावस्था परिणामका उपयोग सिर्फ जड़भागमें अर्थात् प्रकृतिमें करता है, चेतनमें नहीं । और जैनदर्शन तो “ सर्वे भावाः परिणामिनः ” ऐसा सिद्धान्त मानकर परिणामवाद अर्थात् उत्पादव्ययरूप पर्यायका उपयोग जड़ चेतन दोनोंमें करता है । इतनी भिन्नता होनेपर भी परिणामवादकी प्रक्रिया दोनोंमें एक सी है ।

२ उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः । भावियोगहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः ॥

(योगविं. श्लो. ६६) टीका ‘ उक्तं च निरूपितं पुनः योगमार्गज्ञैरध्यात्मविद्भिः पतञ्जलिप्रभृतिभिः ॥

“ एतत्प्रधानः सञ्छादः शीलवान् योगतत्परः । जानात्यतीन्द्रियानर्थस्तथा चाह महामतिः ” ॥ (योगदृष्टिसमुच्चय श्लो. १००) टीका ‘ तथा चाह महामतिः पतञ्जलिः ’ । ऐसा ही भाव गुणग्राही श्रीयशोविजयजीने अपनी योगावतारद्वात्रिंशिकामें प्रकाशित किया है । देखो—श्लो० २० टीका ।

३ देखो योगबिन्दु श्लोक ४१८, ४२० । ४ देखो उनकी बनाई हुई पातञ्जलसूत्रवृत्ति ।

५ देखो पातञ्जलयोगलक्षणविचार, ईशानुग्रहविचार, योगावतार, क्लेशहानोपाय और योगमाहात्म्य द्वात्रिंशिका ।

६ शब्द, चिन्ता तथा भावनाज्ञानका स्वरूप श्रीयशोविजयजीने अध्यात्मोपनिषद्में लिखा है, जो आध्यात्मिक लोगोंको देखने योग्य है । अध्यात्मोपनिषद् श्लो. ६५, ७४ ।

जिज्ञासु महाशय उनकी कृतियोंको देख लें। हरिभद्रसूरिकी शतमुखी प्रतिभाके स्रोत उनके बनाये हुए चार अनुयोगविषयक¹ ग्रंथोंमें ही नहीं बल्कि जैन न्याय तथा भातवर्षीय तत्कालीन समग्र दार्शनिक सिद्धांतोंकी चर्चावाले² ग्रंथोंमें भी बहे हुए हैं। इतना करके ही उनकी प्रतिभा मौन न हुई; उसने योगमार्गमें एक ऐसी दिशा दिखाई जो केवल जैन योगसाहित्यमें ही नहीं बल्कि आर्यजातीय संपूर्ण योगविषयक साहित्यमें एक नई वस्तु है। जैनशास्त्रमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका प्राचीन वर्णन चौदह गुणस्थानरूपसे, चार ध्यान रूपसे और बहिरात्म आदि तीन अवस्थाओंके रूपसे मिलता है। हरिभद्रसूरिने उसी आध्यात्मिक विकासके क्रमका योगरूपसे वर्णन किया है। पर उसमें उन्होंने जो शैली रखी है वह अभीतक उपलब्ध योगविषयक साहित्यमेंसे किसी भी ग्रंथमें कमसे कम हमारे देखनेमें तो नहीं आई है। हरिभद्रसूरि अपने ग्रंथोंमें अनेक योगियोंका नामनिर्देश करते हैं³, एवं योगविषयक⁴ ग्रंथोंका उल्लेख करते हैं जो अभी प्राप्त भी नहीं हैं। संभव है उन अप्राप्य ग्रंथोंमें उनके वर्णनकीसी शैली रही हो, पर हमारे लिये तो यह वर्णनशैली और योग विषयक वस्तु बिस्कुल अपूर्व है। इस समय हरिभद्रसूरिके योगविषयक चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जो हमारे देखनेमें आये हैं। उनमेंसे षोडशक और योगविशिकाके योगवर्णनकी शैली और योगवस्तु एक ही है। योगबिंदुकी विचारसरणी और वस्तु योगविशिकासे जुदा है। योगदृष्टिसमुच्चयकी विचारधारा और वस्तु योगबिंदुसे भी जुदा है। इस प्रकार देखनेसे यह कहना पड़ता है कि हरिभद्रसूरिने एक ही आध्यात्मिक विकासके क्रमका चित्र भिन्न भिन्न ग्रंथोंमें भिन्न भिन्न वस्तुका उपयोग करके तीन प्रकारसे खींचा है।

कालकी अपरिमित लंबी नदीमें वासनारूप संसारका गहरा प्रवाह बहता है, जिसका पहला छोर [मूल] तो अनादि है, पर दूसरा [उत्तर] छोर सान्त है। इसलिये मुमुक्षुओंके वास्ते सबसे पहले यह प्रश्न बड़े महत्त्वका है कि उक्त अनादि प्रवाहमें आध्यात्मिक विकासका आरंभ कबसे होता है ? और उस आरंभके समय आत्माके लक्षण कैसे हो जाते हैं ? जिनसे कि आरंभिक आध्यात्मिक विकास जाना जा सके। इस प्रश्नका उत्तर आचार्यने योगबिंदुमें दिया है। वे कहते हैं कि—“ जब आत्माके ऊपर मोहका प्रभाव घटनेका आरंभ होता है तभीसे आध्यात्मिक विकासका सूत्रपात हो जाता है। इस सूत्रपातका पूर्ववर्ती समय जो आध्यात्मिकविकासरहित होता है, वह जैनशास्त्रमें अचरमपुद्गलपरावर्तके नामसे प्रसिद्ध है। और उत्तरवर्ती समय जो आध्यात्मिक विकासके क्रमवाला होता है, वह चरमपुद्गलपरावर्तके नामसे प्रसिद्ध है। अचरमपुद्गलपरावर्तन और चरमपुद्गलपरावर्तनकालके परिमाणके बीच सिंधु⁵ और बिंदुका सा अंतर होता है। जिस आत्माका संसारप्रवाह चरमपुद्गलपरावर्तपरिमाण शेष रहता है, उसको जैन परिभाषामें ‘ अपुनर्वन्धक ’ और सांख्यपरिभाषामें ‘ निवृत्ताधिकार प्रकृति ’ कहते हैं⁶। अपुनर्वन्धक या निवृत्ताधिकारप्रकृति आत्माका आंतरिक परिचय इतना ही है कि उसके ऊपर मोहका दबाव कम होकर उलटे मोहके ऊपर उस आत्माका दबाव शुरू होता है। यही आध्यात्मिक विका-

1 द्रव्यानुरयोगविषयक—धर्मसंग्रहणी आदि १, गणितानुरयोगविषयक—क्षेत्रसमाप्त टीका आदि २, चरणकरणानुरयोगविषयक—पञ्चवस्तु, धर्मबिंदु आदि ३, धर्मकथानुरयोगविषयक—समराइच्चकहा आदि ४ ग्रंथ मुख्य हैं।

2 अनेकान्तजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि।

3 गोपेन्द्र (योगबिंदु श्लोक २००) कालातीत (योगबिंदु श्लोक ३००)। पतञ्जलि, भदन्तभास्करबन्धु, भगवदन्त (त्त) वादी (योगदृष्टि० श्लोक १६ टीका)।

4 योग—निर्णय आदि (योगदृष्टि० श्लोक १ टीका)

5 देखो मुक्त्यद्वेषद्वान्निशिका २८। 6 देखो योगबिंदु १७८, २०१।

सका बीजारोपण है। यहींसे योगमार्गका आरंभ हो जानेके कारण उस आत्माकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें सरलता, नम्रता, उदारता, परोपकारपरायणता आदि सदाचार वास्तविक रूपमें दिखाई देते हैं; जो उस विकासोन्मुख आत्माका बाह्य परिचय है”। इतना उत्तर देकर आचार्यने योगके आरंभसे लेकर योगकी पराकाष्ठा तकके आध्यात्मिक विकासकी क्रमिक वृद्धिको स्पष्ट समझानेके लिये उसको पाँच भूमिकाओंमें विभक्त करके हर एक भूमिकाके लक्षण बहुत स्पष्ट दिखाये हैं^१, और जगह जगह जैन परिभाषाके साथ बौद्ध तथा योगदर्शनकी परिभाषाका मिलान करके^२ परिभाषाभेदकी दिवारको तोड़कर उसकी ओटमें छिपी हुई योगवस्तुकी भिन्नभिन्नदर्शनसम्मत एकरूपताका स्फुट प्रदर्शन कराया है। अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंश्लेष ये योगमार्गकी पाँच भूमिकायें हैं। इनमेंसे पहली चारको पतंजलि संप्रज्ञात, और अन्तिम भूमिकाको असंप्रज्ञात कहते हैं^३। यही संक्षेपमें योगविन्दुकी वस्तु है।

योगदृष्टिसमुच्चयमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका वर्णन योगविन्दुकी अपेक्षा दूसरे ढंगसे है। उसमें आध्यात्मिक विकासके प्रारंभके पहलेकी स्थितिको अर्थात् अचरमपुद्गलपरावर्त्तपरिमाण संसारकालीन आत्माकी स्थितिको ओघदृष्टि कहकर उसके तरतम भावको अनेक दृष्टांत द्वारा समझाया है^४, और पीछे आध्यात्मिक विकासके आरंभसे लेकर उसके अंततकमें पाई जानेवाली योगावस्थाको योगदृष्टि कहा है। इस योगावस्थाकी क्रमिक वृद्धिको समझानेके लिये संक्षेपमें उसे आठ भूमिकाओंमें बाँट दिया है। वे आठ भूमिकायें उस ग्रन्थमें आठ योगदृष्टिके नामसे प्रसिद्ध हैं^५। इन आठ दृष्टियोंका विभाग पातंजलयोगदर्शन-प्रसिद्ध यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि आठ योगांगोंके आधार पर किया गया है, अर्थात् एक एक दृष्टिमें एक एक योगांगका सम्बन्ध मुख्यतया बतलाया है। पहली चार दृष्टियाँ योगकी प्रारम्भिक अवस्थारूप होनेसे उनमें अविद्याका अल्प अंश रहता है। जिसको प्रस्तुत ग्रंथमें अवेद्यसंवेद्यपद कहा है^६। अगली चार दृष्टियोंमें अविद्याका अंश बिल्कुल नहीं रहता। इस भावको आचार्यने वेद्यसंवेद्यपद शब्दसे जनाया^७ है। इसके सिवाय प्रस्तुत ग्रंथमें पिछली चार दृष्टियोंके समय पाये जानेवाले विशिष्ट आध्यात्मिक विकासको इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग ऐसी तीन योग भूमिकाओंमें विभाजित करके उक्त तीनों योगभूमिकाओंका बहुत रोचक वर्णन किया है^८।

आचार्यने अन्तमें चार प्रकारके योगियोंका वर्णन करके योगशास्त्रके अधिकारी कौन हो सकते हैं, यह भी बतला दिया है। यही योगदृष्टिसमुच्चयकी बहुत संक्षिप्त वस्तु है।

योगविशिकामें आध्यात्मिक विकासकी प्रारंभिक अवस्थाका वर्णन नहीं है, किन्तु उसकी पुष्ट अवस्थाओंका ही वर्णन है। इसीसे उसमें मुख्यतया योगके अधिकारी त्यागी ही माने गये हैं! प्रस्तुत ग्रन्थमें त्यागी गृहस्थ और साधुकी आवश्यक-क्रियाको ही योगरूप बतलाकर उसके द्वारा आध्यात्मिक विकासकी क्रमिक वृद्धिका वर्णन किया है। और उस आवश्यक-क्रियाके द्वारा योगको पाँच भूमिकाओंमें विभाजित किया है। ये पाँच भूमिकायें उसमें स्थान, शब्द, अर्थ, सालंबन और निरालंबन नामसे प्रसिद्ध हैं। इन पाँच भूमिकाओंमें कर्मयोग और ज्ञानयोगकी घटना करते हुए आचार्यने पहली दो भूमिकाओंको कर्मयोग और पिछली तीन भूमिकाओंको ज्ञानयोग कहा है। इसके सिवाय प्रत्येक भूमिकामें इच्छा, प्रवृत्ति, स्वैर्य और सिद्धिरूपसे आध्यात्मिक विकासके तरतम भावका प्रदर्शन कराया है; और उस प्रत्येक भूमिका तथा

१ योगविंदु, ३१, ३५७, ३५६, ३६१, ३६३, ३९६।

२ “यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः। सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्वन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि ॥ २७३ ॥
नरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद्यो भविष्यति। तथाभव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः” ॥ २७४ ॥ योगविन्दु।

३ देखो योगविंदु ४१८, ४२०।

४ देखो, योगदृष्टिसमुच्चय १४। ५ १३। ६ ७५। ७ ७३। ८ २-१२।

इच्छा, प्रवृत्ति आदि अवान्तर स्थितिका लक्षण बहुत स्पष्टतया वर्णन किया है¹। इस प्रकार उक्त पाँच भूमिकाओंकी अन्तर्गत भिन्न भिन्न स्थितियोंका वर्णन करके योगके अस्सी भेद किये हैं, और उन सबके लक्षण बतलाये हैं, जिनको ध्यात्पूर्वक देखनेवाला यह जान सकता है कि मैं विकासकी किस सीढ़ीपर खड़ा हूँ। यही योगविशिकाकी संक्षिप्त वस्तु है।

उपसंहार—विषयकी गहराई और अपनी अपूर्णताका खयाल होते हुए भी यह प्रयास इस लिये किया गया है कि अबतकका अवलोकन और स्मरण संक्षेपमें भी लिपिबद्ध हो जाय, जिससे भविष्यत्में विशेष प्रगति करना हो तो इस विषयका प्रथम सोपान तैयार रहे। इस प्रवृत्तिमें कई मित्र मेरे सहायक हुए हैं जिनके नामोल्लेख मात्रसे मैं कृतज्ञता प्रकाशित करना नहीं चाहता। उनकी आदरणीय स्मृति मेरे हृदयमें अखंड रहेगी।

पाठकोंके प्रति एक मेरी सूचना है। वह यह कि इस निबंधमें अनेक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द आये हैं। खासकर अन्तिम भागमें जैन-पारिभाषिक शब्द अधिक हैं, जो बहुतोंको कम विदित होंगे; उनका मैंने विशेष खुलासा नहीं किया है, पर खुलासावाले उस उस ग्रन्थके उपयोगी स्थलोंका निर्देश कर दिया है जिससे विशेष जिज्ञासु मूलग्रन्थद्वारा ही ऐसे कठिन शब्दोंका खुलासा कर सकेंगे। अगर यह संक्षिप्त निबंध न हो कर खास पुस्तक होती तो इसमें विशेष खुलासोंका भी अवकाश रहता।

इस प्रवृत्तिके लिये मुझको उत्साहित करनेवाले गुजरात पुरातत्त्व संशोधन मंदिरके मंत्री परीख रसिक-लाल छोटालाल हैं जिनके विद्याप्रेमको मैं नहीं भूल सकता।

संवत् १९७८ पौष
वदि ९
भावनगर.

}

लेखक—
मुखलाल संघजी.

1 योगविशिका गा० ५, ६।

कुंरपाल सोणपाल प्रशस्ति



(लेखक—बनारसी दास जैन, एम० ए०, ओरियंटल कालेज, लाहोर.)

१. सन १९२० में एम० एस० जैन कानफ्रेन्स की तरफ से इन्दौर वासी सेठ केसरी चन्द भण्डारी ने मुझे लिखा कि उक्त कानफ्रेन्स का जो प्राकृत कोश बन रहा है आप उसे देख-कर उस के विषय में अपनी तथा अन्य प्राकृत विद्वानों की सम्मति लेकर लिखें। इस सम्बन्ध में मुझे उस साल कई नगरों में जाना पड़ा। जब मैं आगरे में था तो मेरा समागम पं० सुखलालजी से हुआ, उन्होंने ने मुझे बतलाया कि यहां के मन्दिर में एक नया शिला लेख निकला है¹ जिसको अभी किसी ने नहीं देखा। मैं मुनि प्रतापविजयजी को साथ लेकर उसे देखने गया। परन्तु उस समय छाप उतारने की सामग्री विद्यमान न थी इस लिये उस समय मैं वहां अधिक ठहरा भी नहीं क्योंकि लेख को देखने के दो तीन घंटे पीछे मैं वहां से चल पड़ा था।

२. फिर अप्रैल सन १९२१ में मैं पंजाब यूनिवर्सिटी के एम. ए. तथा बी. ए. क्लासों के संस्कृत विद्यार्थियों को लेकर कलकत्ता, पटना, लखनऊ आदि बड़े बड़े नगरों के अजायब घर (Museums) देखने जा रहा था, तब आगरे में भी ठहरा और उपरोक्त शिलालेख की छाप तय्यार की, परन्तु अब वहां न तो पं० सुखलालजी थे न ही मुनि प्रतापविजयजी थे। बाबू दयालचन्दजी भी कारण वश बाहिर गए हुए थे। इन के अतिरिक्त और कोई श्रावक मुझ से परिचित न थे इसलिये उस वक्त वह छाप मुझ को न मिल सकी। अब कलकत्ता निवासी श्रीयुत बाबू पूरणचन्द नाहर द्वारा मैं ने वह छाप प्राप्त की है और उसी के आधारपर पाठकों को इस शिलालेख का परिचय दे रहा हूं।

३. यह लेख लाल पत्थर की शिला पर खुदा हुआ है जो लग भग दो फुट लम्बी और दो फुट चौड़ी है। लेख खोदने से पहिले शिला के चारों ओर दो दो इंच का हाशिया (margin) छोड़ कर रेखा डाल दी गई है। रेखा के बाहिर ऊपर की तरफ “पातसाहि श्री जहांगीर” उभरे हुए अक्षरों में खुदा हुआ है। बाकी का सारा लेख गहिरे अक्षरों में खुदा हुआ है। रेखाओं के अन्दर लेख की ३३ पंक्तियां हैं मगर उन में लेख समाप्त न हो सका इस लिये रेखाओं के बाहिर नीचे दो पंक्तियां (नं० ३४ और ३८) दाई ओर एक पंक्ति (नं० ३९) और बाई ओर दो पंक्तियां [नं० ३६—३७] और खोदी गई हैं। शिला के दाई ओर नीचे का कुछ भाग टूट गया है जिस से लेख की पंक्ति २८—३४ और ३८ के अन्त के आठ नौ अक्षर और पंक्ति ३९ के आदि के १४, १९ अक्षर टूट गए हैं। इस से कुंवरपाल सोनपाल के उस समय वर्तमान परिवार के प्रायः सब नाम नष्ट हो गए हैं। पंक्ति ३६—३७ के भी कुछ अक्षर टूट नहीं गए।

1 मन्दिर की एक कोठड़ी में बहुत से पत्थर पड़े थे। जब अप्रैल मई सन् १९२० में उन पत्थरों को निकालने लगे तो उन में से यह लेख भी निकला। अब यह शिला लेख मन्दिर में ही पड़ा है ॥

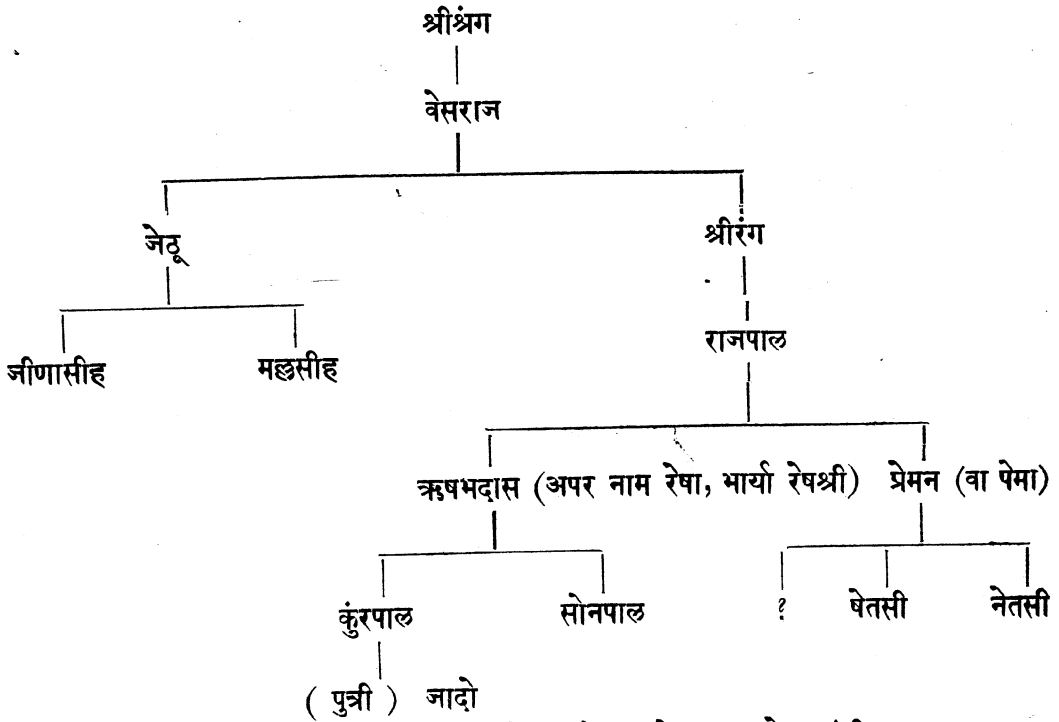
४. लेख के अक्षर शुद्ध जैन लिपि के हैं जो कि हस्त लिखित पुस्तकों (Mss.) में पाए जाते हैं। पुस्तकों की भांति लेख की आदि में 'र्द०' यह चिन्ह है जो शायद 'ओम्' शब्द का द्योतक है, क्योंकि प्राचीन शिलालेख तथा ताम्रशासनों में 'ओम्' के लिये कुछ ऐसा ही चिन्ह हुआ करता था। 'च' और 'व' की आकृति बहुत कुछ मिलती जुलती है। पंक्ति ६ और ८ में मार्ग और वर्ग शब्दों में 'म्' के लिये 'ग्र' १ चिन्ह आया है जो जैन लिपि का खास चिन्ह है।

५. वर्णविन्यास (Spelling) में विशेषता यह है कि " परसवर्ण " कहीं नहीं किया गया अर्थात् स्पर्शीय अक्षरों के पूर्व नासिक्य के स्थान में सर्वदा अनुस्वार लिखा गया है जैसे पंक्ति २ में पङ्कज, बिम्ब, चन्द्र के स्थान में पंकज, बिंब, चंद्र लिखे हैं। इसी प्रकार श्लोकार्ध वा श्लोक के अन्त में म् के स्थान में अनुस्वार ही लिखा है जैसे पंक्ति १६ में अठारहवें अर्धश्लोक के अन्त में ' श्रुत्वा कल्याणदेशनां । ' पंक्ति २० अर्धश्लोक २१ ' वित्तबीजमनुत्तरं । ' पंक्ति २२ श्लोकान्त २३ ' चित्तरंजकं । ' पंक्ति २६ श्लोकान्त २८ ' कारितं । ' इत्यादि। पंक्ति ९ में षट्त्रिंशत् के स्थान में षट्त्रिंशत् लिखा है। विराम का चिन्ह '।' श्लोकपादों के अन्त में भी लगाया है, कहीं कहीं पंक्ति के अन्त में अक्षर के लिये पूरा स्थान न होने से विराम लिख दिया है जैसे पंक्ति ७, ९, १२, १९ आदि में।

६. पट्टावलि को छोड़ कर बाकी तमाम लेख श्लोकबद्ध है। इसकी भाषा शुद्ध संस्कृत है परन्तु पंक्ति १९ में पति शब्द का सप्तमी एक वचन ' पतौ ' लिखा है जो व्याकरण की रीति से ' पत्यौ ' होना चाहिये था। यद्यपि पंक्ति १६ में ' कारिता ' और पंक्ति २६ में ' कारितं ' शब्द आए हैं तथापि पंक्ति ३२ में कारिता के लिये ' कारापिता ' लिखा है। यह शब्द जैन लेखकों के संस्कृत ग्रन्थों में बहुधा पाया जाता है और प्राकृत से संस्कृत प्रयोग बना है। पंक्ति १७ में प्राकृत शैली से आनन्द श्रावक का नाम ' आणंद ' लिखा है और पंक्ति ११ में ' उत्सुकौ ' के स्थान में ' उच्छुकौ ' शब्द प्रतीत होता है।

७. यह प्रशस्ति जहांगीर बादशाह के समय की है। विक्रम सं० १६७१ में आगरा निवासी कुरपाल सोनपाल नाम के दो भाइयों ने वहां श्री श्रेयांस नाथ जी का मन्दिर बनवाया था जिस की प्रतिष्ठा अंचल गच्छ के आचार्य श्री कल्याणसागर जी ने कराई थी। उस समय यह प्रशस्ति लिखी गई। मन्दिर की प्रतिष्ठा के साथ ४९० अन्य प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा भी हुई थी जिन में से ६, ७ प्रतिमाओं के लेख बाबू पूर्णचन्द नाहर ने अपने " जैन लेख संग्रह " में दिये हैं। (देखिये उक्त पुस्तक, लेख नं० ३०७—३१२, ४३३)। इन लेखों से कुरपाल सोनपाल के पूर्वजों का कुछ हाल मालूम नहीं होता लेकिन प्रशस्ति में उन की वंशावलि इस प्रकार दी है।

१ डाक्टर वेबर (Weber.) इसको ग्र (गृह) पढ़ते हैं जैसा कि बर्लिन नगर के जैन पुस्तकों की सूचि के पृष्ठ ५७६ पर आए pogralla. शब्द से स्पष्ट प्रतीत होता है, वास्तव में यह शब्द पोगगल (Pogglä.) है। इसी प्रकार पृष्ठ ५२५ पर मियगाम को miyagrama. (मियग्राम) लिखा है। Weber's datalogue of Crakrit Mss in the Royal Lidrarry at Berlin.



कुरपाल सोनपाल ओसवाल जाति के लोढा गोत्रीय थे। इन को जहांगीर बादशाह का अमात्य (मंत्री) करके लिखा है। जहांगीर के राज्य सम्बन्धी एक दो फारसी किताबें देखीं परन्तु उन में इन का नाम उपलब्ध नहीं हुआ।

८. मूर्तियों के लेखों¹ से मालूम होता है कि कुरपाल सोनपाल के वंश को गाणी वंश कहते थे और इन लेखों से उन के परिवार के कुछ नामों का भी पता चलता है जो प्रशस्ति में पढ़े नहीं जाते जैसे कि:— ऋषभदास के कुरपाल सोनपाल के सिवाय रूपचंद, चतुर्भुज, धनपाल, दुनीचंद आदि और भी पुत्र थे।

प्रेमन की भार्या का नाम शक्ता देवी था।

बेतसी की भार्या का नाम भक्ता देवी था उन का पुत्र सांग था।

९. इस के अतिरिक्त “जैनसाहित्य संशोधक” खण्ड १ अंक ४ में जो सं. १९६७ का “आगरा संघनो सचित्र सांत्वसरिक पत्र” प्रकाशित हुआ है, उस में कुछ नाम प्रशस्ति के नामों से मिलते हैं परन्तु यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि दोनों लेखों में एक ही व्यक्ति का उल्लेख है या भिन्न २ का:—

1 यह लेख पैरेग्राफ १३ में उद्धृत किये गए हैं।

सांवत्सरिक	पत्र	पंक्ति	३०	साः	पेमन, संः	नेतसी
"	"	"	३३	साः	पेतसी	
"	"	"	३४	साः	नेतसी, संः	रीषभदास
"	"	"	३५	"	रीषभदास	सोनी

१०. प्रशस्ति के समय के संबंध में यह बात बड़ी ध्यान देने योग्य है कि प्रशस्ति में तो साफ तौर पर वैशाख शुदि ३, विक्रम सं० १६७१ गुरुवासर (बृहस्पतिवार) लिखा है परंतु मूर्तियों के लेखों में वैशाख शुदि ३ विक्रम सं. १६७१ शनि (सनीचर वार) लिखा है ¹। यह ऐसा विरोध है कि इस के लिये कोई हेतु नहीं दिया जा सक्ता; क्योंकि एक ही स्थान पर एक ही तिथि में वारभेद कैसे हो सक्ता है। यदि तृतीया वृद्धि तिथि होती तो भी कह सकते कि बृहस्पति वार की रात्रि के पिछले पहर में और शनि को दिन के पहिले पहर में तृतीया थी। मगर तृतीया वृद्धि तिथि न थी जैसा कि इंडियन् कैलेंडर ² में दी हुई सारिणी (Tables) के अनुसार गणित करने पर गत संवत् (Expired) १६७१ वैशाख सुदि ३ शनिवार २ अप्रैल सन् १६१४ (Old Style) को आती है और उस दिन वह तिथि १७ घड़ी के अनुमान बाकी थी। रोहिणी नक्षत्र सूर्योदय से १३ घड़ी पीछे लगा। वैशाख वदि १३ (अमान्त मासों से चैत्र वदि १३) वृद्धि तिथि आती है।

११. प्रशस्ति में दी हुई अंचल गच्छ की पट्टावलि से ज्ञात होता है कि उस गच्छ के प्रवर्तक आचार्य, श्री आर्यरक्षित सूरि, भगवान महावीर स्वामी से ४८ वें पट्ट पर बैठे थे और श्री कल्याण सागर सूरि गच्छ के १८ वें आचार्य थे। अंचल गच्छ की पट्टावलि डा. भांडारकर और डा. ब्यूलर ने भी छापी है। इन में डा. भांडारकर तो पांचवें आचार्य श्री सिंहप्रभ सूरि का नाम छोड़ गए हैं ³ और डा. ब्यूलर छठे आचार्य श्री अजितसिंहसूरि अपरनाम श्री जिनसिंह सूरि का नाम छोड़ गए हैं ⁴। हालां कि जिन आधारों परसे उन्होंने ये यह पट्टावलि छापी है उन में साफ तौर पर उक्त दोनों आचार्यों के नाम यथास्थान दिये हुए हैं। ⁵

1 जैन लेख संग्रह, लेख नं. ३०८-११ “ श्री मत्संवत् १६७१ वर्षे वैशाख सुदि ३ शनौ ”

2 The Indian Calendar by Sewel and Balkrishna Dikshit, 1896.

3 Report on the Search for Sanskrit manuscripts for the year 1883-84 Bomday 1887 p. 130

4 Epigraphia Indica p.39

5 भांडारकर-उक्त पुस्तक पृष्ठ ३२१

४८ श्रीआर्यरक्षितसूरिः चंद्रगच्छे श्रीअंचलगच्छस्थापना शुद्धविधिप्रकाशनात् सं. ११५९

४९ श्रीविजयसिंह सूरिः ५० श्रीधर्मघोष सूरिः

५१ श्रीमहेंद्रसिंह सूरिः ५२ श्रीसिंहप्रभ सूरिः

५३ श्रीअजितसिंहसूरिः पारके चित्रावालगच्छतो निर्गता सं. १२८५ तपगच्छमतं वस्तुपालतः गच्छस्थापना

१२. अंत में मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि इस प्रशस्ति के संबंध में दो बातों की अधिक खोज आवश्यक है एक तो यह कि मुगल बादशाहों के इतिहास में कुं[व]रपाल और सोनपाल या उन के पिता का नाम ढूँढना चाहिये, और दूसरी यह कि वैसाख सुदि ३ को बृहस्पति और शनि क्योंकर हो सके हैं; इस का समाधान करना चाहिये ॥

[—१३. मूर्तियों के लेख: जैन लेख संग्रह: पृष्ठ ७८, ७९, १०९

नं० ३०७. सम्वत् १६७१ आगरावास्तव्य ओसवाल ज्ञातीय लोढा गोत्रे गाणी वंसे सं० ऋषभदास भार्या सु: रेष श्री तत्पुत्र संघराज सं० रूपचन्द चतुर्भुज सं० धनपालादि युते श्री मदंचलगच्छे पूज्य श्री ९ धर्ममूर्ति सूरि तत् पट्टे पूज्य श्री कल्याणसागर सूरिणामुपदेशेन विद्यमान श्री विसाल जिनबिंब प्रति....

नं० ३०८. संवत् १६७१ वर्षे ओसवाल ज्ञातीय लोढा गोत्रे गाणी वंसे साह कुंरपाल^१ सं० सोनपाल प्रति० अंचलगच्छे श्री कल्याणसागर सूरिणामुपदेशेन वासुपूज्यबिंबं प्रतिष्ठापितं ॥

नं० ३०९. ॥ श्रीमत्संवत् १६७१ वर्षे वैशाख सुदि ३ शनौ आगरा वास्तव्योसवाल ज्ञातीय लोढा गोत्रे गावंसे संघपति ऋषभदास भा० रेषश्री पुत्र सं० कुंरपाल सं० सोनपाल प्रवरौ स्वपितु ऋषभदास पुन्यार्थं श्रीमदंचलगच्छे पूज्य श्री ९ कल्याणसागरसूरिणामुपदेशेन श्री पदम-प्रभु जिनविंबं प्रतिष्ठापितं सं० चागाकृतं ॥

नं० ३१०. श्रीमत्संवत् १६७१ वर्षे वैशाख सुदि ३ शनौ श्री आगरावास्तव्य उपकेस ज्ञातीय लोढा गोत्र सा० प्रेमन भार्या शक्तादे पुत्र सा० पेतसी लघुभ्राता सा० नेतसी^२ सुतेन श्री-मदंचलगच्छे पूज्य श्री ९ कल्याणसागरसूरिणामुपदेशेन श्री वासपूज्यबिंबं प्रतिष्ठापितं सं० कुंर-पाल सं० सोनपाल प्रतिष्ठितं ।

न्यूलर—उक्त (Epig. Ind.) Jaina inscriptions from Satrunjaya, Nos. XXI, XXVII, और CV.

XXI यह लेख सं० १६७५ का है—

श्रीसिंहप्रभसूरीशः सूरयोऽजितसिंहकाः । श्रीमहेन्द्रसूरीशः श्रीधर्मप्रभसूरयः ॥ ८ ॥

श्रीसिंहतिलकाव्हाश्च श्रीमहेन्द्रप्रभाभिघाः । श्रीमन्तो मेरुतुङ्गाख्या बभूवुः सूरयस्ततः ॥ ९ ॥

XXVII यह लेख सं० १६८३ का है—

तेभ्यः क्रमेण गुरवो जिनसिंहगोत्राः बभूवुरथ पूज्यतमा गणेशाः ॥

देवेन्द्रसिंहगुरवोऽखिललोकमान्याः धर्मप्रभा मुनिवरा विधिपक्षनाथाः ॥ ९ ॥

पूज्याश्च सिंहतिलकास्तदनु प्रभूत—भाग्या महेन्द्रविभवा गुरवो बभूवुः ॥

चक्रेश्वरी भगवती विहितप्रसादाः श्रीमेरुतुङ्गासूरो नरदेववन्द्याः ॥ १० ॥

CV यह लेख सं १९२१ का है । इस में आचार्य कल्याणसागर तक लेख नं XXVII के ही श्लोक उद्धृत किये हैं । इन लेखों की भाषा जैन संस्कृत है ।

१ सिवाय लेख ४३३ के और सब जगह कुंर को कुंर या कुर पढ़ा है ।

२ प्रशस्ति में तथा मूर्ति के अन्य लेखों में नेतसी ।

नं० ३११. श्रीमत्संवत् १६७१ वैशाख सुदि ३ शनौ श्री आगरानगरे ओसवाल ज्ञाती लोढा गोत्रे—गावंसे सा० पेमन भार्या श्री शक्तादे पुत्र सा० पेतसी भा० भक्तादे पुत्र सा०—सांग—
श्री अंचलगच्छे पूज्य श्री ९ कल्याणसागरसूरीणामुपदेशेन श्री विमलनाथ बिंबं प्रतिष्ठापितं
सा० कुरपाल.... ।

नं० ३१२. [सं० १६७१] ॥ संघपति श्री कुरपाल सं०—सोनपालैः स्वमातृपुन्यार्थ श्री
अंचलगच्छे पूज्य श्री ९ श्री धर्ममूर्तिसूरि पट्टाम्बुजहंस श्री ९ श्री कल्याणसागरसूरीणामुपदेशेन
श्रीपार्श्वनाथबिंबं प्रतिष्ठापितं पूज्यमानं चिरं नंदतु ॥

नं० ४३३. श्रीमत्संवत् १६७१ वर्षे वैशाख सुदि ३ शनौ श्री आगरावास्तव्योसवाल
ज्ञातीय लोढा गोत्रे गावं—ज्रा सं० ऋषभदास भार्या रेषश्री तत्पुत्र श्री कुरपाल सोनपाल संघाधिपे
स्वानुजवर दुनीचंदस्य पुण्यार्थ उपकाराय श्री अंचलगच्छे पूज्य श्री ९ कल्याणसागरसूरीणामुपदेशेन
श्री आदिनाथबिंबं प्रतिष्ठापितं ॥]

प्रशस्ति की नकल

(नोटः— [] इन चिन्हों में दिये अक्षर टूट गए हैं या साफ नहीं पढ़े जाते)

॥ पातसाहि श्री जहांगी[र] ॥

१. ॥ ॐ ॥ श्री सिद्धेभ्यो नमः ॥ स्वस्ति श्री विष्णुपुत्रो निखिलगुणयुतः पारगो वीतरागः । पायाद् वः क्षणिककर्मा मुरशिखरिसमः क [ल्य]—
२. तीर्थप्रदाने ॥ श्री श्रेयान् धर्ममूर्तिर्भविकजनमनःपंकजे बिम्ब^१भानुः । कल्याणाम्भोधिचन्द्रः मुरनरनिकरैः सेव्य [मा]—
३. नः कृपालुः ॥ १ ॥ ऋषभप्रमुखाः सार्व^२ । गौतमाद्या मुनीश्वराः । पापकर्मविनिर्मुक्ताः क्षेमं कुर्वन्तु सर्वदा ॥ २ ॥ कुर—
४. पालस्वर्णपालौ । धर्मकृत्यपरायणौ । स्ववंशकुजमार्त्तण्डौ । प्रशस्तिर्लिख्यते तयोः ॥ ३ ॥ श्रीमति हायने रम्ये चन्द्रर्षिरस—
५. भूमिमे १६७१ । षड्^३त्रिंशत्तिथिशाके १९३६ विक्रमादित्यभूपतेः ॥ ४ ॥ राधमासे वसन्तर्तौ शुक्लायां तृतीयातिथौ । युक्ते तु
६. रोहिणीभेन निर्दोषे गुरुवासे ॥ ९ ॥ श्री मदञ्चल^४गच्छाख्ये । सर्वगच्छावतंसके । सिद्धान्ताख्यातमार्गेण । राजिते विश्वविस्तृते । ६ । उग्रसे—

१ लेख में विंव

२ विसर्ग खोदकर काटी गई है जिस से विसम सा प्रतीत होता है ।

३ षट्० चाहिये ।

४ “ ल ” खोदने से रह गया था । पीछे च ग के नीचे खोदा गया है ।

५ ग के लिये अ चिन्ह लिखा गया है ।

७. नपुरे रम्ये निरातङ्करसाश्रये । प्रासादमन्दिराकीर्णै । सद्ज्ञातौ ह्युपकेशवे । ७ । लोढा गोत्रे विवस्वाँस्त्रिजगति सुयशा ब्रह्मच—
८. र्यादियुक्तः । श्रीश्रङ्गख्यातनामा गुरुवचनयुतः कामदेवादितुल्यः । जीवाजीवादितत्वे पर-
रुचिरमतिर्लोकवर्मेषु याव—। ज्जीया—
९. श्रन्द्रार्कबिम्बं परिकरभृतकैः सेवितस्त्वं मुदा हि । ८ । लोढा सन्तानविज्ञातो । धनराजो
गुणान्वितः । द्वादशव्रतधारी च । शुभ—
१०. कर्मणि तत्परः । ९ । तत्पुत्रो वसराजश्च । दयावान् सुजनप्रियः । तूर्यव्रतधरः श्रीमान्
चातुर्यादिगुणैर्युतः । १० । तत्पुत्रौ द्वा—
११. वभूतां च । सुरागावर्धितौ सदा । जेठू श्रीरङ्गगतौ च । जिनाज्ञापालानोच्छ्रकौ^१ । ११ ।
तौ जीणासीहमल्लारूयौ जेठ्वात्मजौ बभूवतु—
१२. : । धर्मविदौ च दक्षौ च । महापूज्यौ यशोधनौ । १२ । आसीच्छ्री^२रङ्गजो नूनं जिन-
पादाचने रतः । मनीषी सुमना भव्यो राजपा—
१३. ल उदारधीः । १३ । आर्या । धनदौ चर्षभदास । पेमारूयौ विविधसौख्यधनयुक्तौ ।
आस्तां प्राज्ञौ दौ च तत्त्वज्ञौ तौ तु तत्पु—
१४. त्रौ । १४ । रेषाभिधस्तयोज्येष्ठः । कल्पद्रुगिरिव सर्वदः । राजमान्यः कुलाधारो ।
दयालुधर्मकर्मठः । १५ । रेषश्रीस्तत्प्रिया
१५. भव्या । शीलालङ्कारधारिणी । पतिव्रता पतौ^३ रक्ता । सुलशारेवतीनिमा । १६ । श्री
पद्मप्रभबिम्बस्य नवीनस्य जिनाल—
१६. ये । प्रतिष्ठा कारिता येन सत्श्राद्धगुणशालिना^४ । १७ । ललौ तूर्यव्रतं यस्तु । श्रुत्वा
कल्याणदेशनां । राजश्रीनन्दनः
१७. श्रेष्ठ । आनन्द^५श्रावकोपमः । १८ । तत्सूनुः कुरपालः । किल विमलमतिः स्वर्णपालो
द्वितीय—। श्चातुर्यौदार्यधैर्यप्रभु—
१८. खगुणनिधिर्भाम्यसौभाग्यशाली । तौ द्वौ रूपाभिरामौ । विविधजिनवृषध्यानकृत्यैकनिष्ठौ ।
त्यागैः कर्णावतारौ निज—
१९. कुलतिलकौ वस्तुपालोपमाहर्णौ । १९ । श्री जहांगीरभूपालामात्यौ धर्मधुरन्धरौ । धनिनौ
पुण्यकर्तारौ । विख्यातौ आ—
२०. तरौ भुवि । २०—। याम्यामुत्तं नवक्षेत्रे । वित्तबीजमनुत्तरम् । तौ धन्यौ कामदौ लोके ।
लोढागोत्रावतंसकौ । २१ । अवा—

१ छ के लिये जैन लिपि का चिन्ह ।

२ लेख में आसीछीरंग० लिखा है ।

३ पर्यौ होना चाहिये था ।

४ सत्श्राद्ध० या सच्छ्राद्ध० होना चाहिये था ।

५ लेख में आणंद० लिखा है ।

२१. प्य शासनं चारु । जहांगीरपतेर्ननु । कास्यामसतुर्धर्म । क्रियासर्व सहोदरौ । २२ ।
शाला पोषधपूर्वा वै यकाभ्यां सा^१
२२. विनिर्मिता । अधित्यकात्रिकं यत्र राजते चित्तरञ्जकम् । २३ । समेताशिकरे भव्ये
शत्रुञ्जयेर्बुदाचले । अन्येष्वपि च तीर्थेषु गि—
२३. रिनारिगिरौ^२ तथा । २४ । सङ्क्रामधिपत्यमासाद्य । ताभ्यां यात्रा कृता मुदा । महद्दर्श
सर्वसामग्र्या । शुद्धसम्यक्त्वहेतवे । २५ । तुरङ्गा—
२४. णां शतं कान्तं । पञ्चविंशतिपूर्वकम् । दत्तं तु तीर्थयात्रायै । गजानां पञ्चविंशतिः
। २६ । अन्यदपि धनं वित्तं । प्रप्तं संख्यातिमं खलु
२५. अर्जयामासतुः कीर्ति- । मित्थं तौ वसुधातले । २७ । उत्तुङ्गं गगनालम्बि । सच्चित्रं
सध्वजं परम् । नेत्रासेचनकं ताभ्यां । युग्मं चैत्य—
२६. स्य^३ कारितम् । २८ । अथ गद्यम् । श्री अञ्जलगच्छे । श्री वीरादष्टचत्वारिंशत्तमे पट्टे ।
श्रीपावकगिरौ श्रीसीमन्धरजिनक्वसा श्रीचक्रे [श्वरीद]—
२७. तवराः । सिद्धान्तोक्तमार्गप्ररूपकाः । श्रीविधिपक्षगच्छसंस्थापकाः । श्रीआर्यरक्षित
सूरय-१ । स्तत्पदे श्रीजयसिंहसूरि [२ श्री धर्म त्रौ]—
२८. षसूरि ३ श्रीमहेन्द्रसूरि ४ श्रीसिंहप्रभसूरि ५ श्री जिनसिंहसूरि ६ श्रीदेवेन्द्रसिंहसूरि
७ श्रीधर्मप्रभसूरि ८ श्री[सिंहतिलकसू]—
२९. रि ९ श्रीमहेन्द्रप्रभसूरि १० श्रीमेरुतुङ्गसूरि ११ श्रीजयकीर्तिसूरि १२ । श्रीजय-
केशरिसूरि १३ श्रीसिद्धान्तसागर [सूरि १४ श्री भावसां]
३०. गरसूरि १५ श्रीगुणनिधानसूरि १६ श्रीधर्ममूर्तिसूरय १७ स्तत्पट्टे सम्प्रति विराज-
मानाः । श्रीभट्टारक पुरवराः [—————]^४
३१. णयः श्रीयुगप्रधानाः । पूज्य भट्टारक श्री ९ श्री कल्याणसागर सूरय १८ स्तेषामुप-
देशेन श्रीश्रेयांसजिनबिम्बा [दीना —————]^५
३२. कुरपालसोनपालाभ्यां प्रतिष्ठा कारापिता । पुनः श्लोकाः । श्रीश्रेयांसजिनेशस्य बिम्बं
स्थापितमुत्तमं प्रति [ि —————]
३३. णामुपदेशतः । २९ । चत्वारि शतमानानि । सार्धान्युपरि^६ तत्क्षणे । प्रतिष्ठितानि
बिम्बानि । जिनानां सौख्यकारि [णाम् । ३० । —————]

१ सा शब्द का I चिन्ह २२ वीं पंक्ति में है ।

२ गिरिनार० चाहिये था क्यों कि यह शब्द गिरिनगर का अपभ्रंश है ।

३ चैत्ययोः चाहिये था ।

४ यहां से सात आठ अक्षर टूट गए हैं ।

५ यहां से पांच अक्षर टूट गए हैं ।

६ सार्धा० लिखा है ।

३४. तु लेभाते । प्राज्यपुण्यप्रभावतः देवगुर्वोः सदा भक्तौ । शश्वत्तौ नन्दतां चिरम् । ३१ ।
अथ तयोः परिवारः । सङ्घराज [- - - - -] १
३५. - - - - - । - - - - - । - - - - - । ३२ । सनवः
स्वर्णपाल - । - - - - - [चतुर्भुज] - - - - - [पुत्री] युगलमुत्तमम्
। ४३ । प्रेमनस्य त्रयः पु [प्राः - - - - -]
३६. नेतसी तथा । नेतसी विद्यमानस्तु सच्छीलेन सुदर्शनः । ३४ । वीमतः सङ्घराजस्य ।
तेजस्विनो यशस्विनः । चत्वारस्तनुजन्मान - - - - - मताः । ३५ कुंरपालस्य स—
३७. द्वार्या । - - - - - । - - - - - । - - - - - पतिप्रिया
। ३६ । तदङ्गजास्ति गम्भीरा जादो नाम्नि [स] - - - - - । - - - - -
ज्येष्ठमल्लो गुणाश्रयः । ३७ ।
३८. सङ्घश्रीसुलसश्रीर्दा । दुर्गाश्रीप्रमुखैर्निजैः । वधूजनैर्युतौ भाता । रेवश्री नन्दनौ सदा
। ३८ । भूपण्डलसमारङ्ग । सिन्धुवर्कयुक्त [- - - - -] - - - - -
- - - - - । ३८] २



लेख का सारांश

(लेख की भाषा सरल होने के कारण पूरा अनुवाद नहीं दिया)

- पंक्ति १-३ मंगलाचरण ।
" ४-५ प्रशस्ति का रचना काल । विक्रम संवत् चन्द्र अक्षि रस भू अर्थात् १६७१, शक
संवत् १५३६, राघ (वैशाख) मास, वसंत ऋतु, शुक्ल पक्ष, तृतीया तिथी,
गुरुवार रोहिणी नक्षत्र ।
" ६ अंचल गच्छ की प्रशंसा ।
" ७ उप्रसेनपुर (आगरा नगर) की शोभा का वर्णन ।
" ८-९ उपकेश (ओसवाल) ज्ञातीय, लोढा गोत्रीय, श्रीश्रंग की स्तुति ।
१० उस के पुत्र बेसराज के गुणों का वर्णन ।
११ बेसराज के पुत्र जेटू और श्रीरंग का वर्णन ।
" ११-१२ जेटू के पुत्र जीणासीह और मल्ल[सीह] का वर्णन ।
" १२ श्रीरंग का पुत्र राजपाल, तिस का वर्णन ।
" १३ राजपाल की राज दरबार में बड़ी प्रतिष्ठा थी, और उस के अक्षभदास और
प्रेमन दो पुत्र थे ।
" १४ उन में अक्षभदास (अपरनाम रेवा) बड़ा था । इस की भार्या रेवश्री ।
" १५-१६ अक्षभदास ने मंदिर में श्रीपद्मप्रभ के नये बिंब की प्रतिष्ठा कराई थी । और

१ यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पंक्ति ३४ के अंत और पंक्ति ३५ के आदि में कितने अक्षर हटे हैं ।

२ प्रतीत होता है कि प्रशस्ति यहाँ समाप्त हो गई ।

- ॥ किसी आचार्य की कल्याणकारी देशनों को सुनकर राजश्री के पुत्रने^१ ब्रह्म-
चर्य व्रत धारण किया ।
- ॥ १७-१८ ऋषभदास के पुत्र कुंरपाल स्वर्णपाल (सोनपाल) । तिन के गुणों का वर्णन ।
दान देने में उन की कर्ण से उपमा ।
- ॥ १९-२० ये जहांगीर बादशहा के अमात्य (मंत्री) थे; बड़े धनवान थे; सदा शुभकाम
करते और पुण्य क्षेत्रों में धन लगाते थे ।
- ॥ २१ जहांगीर की आज्ञा से दोनों भाई धर्म का काम करते थे ।
- ॥ २२-२३ उन्होंने ने तीन भवन वाली एक पौषधशाला बनवाई । संधाधिपति बनकर समेत-
शिक्षर, शत्रुंजय, आबू, गिरनार तथा अन्य तीर्थों की यात्रा की ।
- ॥ २४ १२५ घोड़े, १५ हाथी यात्रा के लिये जुदा कर छोड़े थे ।
- ॥ २५ उन्होंने ने दो चैत्य बनवाए जो बहुत ही ऊँचे, चित्रों और झंडों से सजे
हुये थे ।
- ॥ २६ अंचल गच्छ की उत्पत्ति । भगवान महावीर से ४८ वें पट्ट पर श्री आर्य रक्षित
सूरी हुए । उन्होंने ने श्री सीमंधर^२ स्वामी की आज्ञा पूर्वक चक्रेश्वरी देवी से
वर प्राप्त करके विधिपक्ष अर्थात् अंचलगच्छ चलाय^३ ।
- ॥ २७-३० पट्टावलि ।
- ॥ ३१-३२ कुंरपाल सोनपालने श्री कल्याणसागरके उपदेश से श्रेयांस नाथजी का मंदिर
बनवाया ।
- ॥ ३३-३४ और उसी समय ४५० अन्य प्रतिमाओं^४ की प्रतिष्ठा हुई । इस से उन की बड़ी
कीर्ती हुई ।
- ॥ ३५ संघराज...बेटे सोनपाल...चतुर्भुज...दो बेटियाँ । प्रेमन के तीन पुत्र...
- ॥ ३६ पेतसी और नेतसी जो शीलपालने से मानो सुदर्शन ही विद्यमान था । बुद्धि-
मान, तेजस्वी और यशस्वी संघराज के चार बेटे थे ।
- ॥ ३७ कुंरपाल की भार्या.....उस की पुत्री का नाम जादो था । जेष्ठमल्ल गुणों
का धाम
- ॥ ३८ रेषश्री के दोनो पुत्र (कुंरपाल सोनपाल) अपनी पुत्रवधुओं संघश्री, सुलसश्री,
दुर्गश्री आदि के गुणों से शोभा पाते रहें । आशीर्वाद (जिस के बहुत से
अक्षर टूट गए हैं) ॥

१ कल्याणदेशना से शायद श्रीकल्याणसागर जी के उपदेश का आशय हो ।

२ शायद ऋषभदास की माता का नाम राजश्री था ।

३ महाविदेह क्षेत्र में वर्तमान तीर्थकर ।

४ इन प्रतिमाओं का पता लगाना चाहिये ।

५ यहाँ से लेख का सम्बंध ठीक नहीं बैठता ।

[टिप्पणी—कुंवरपाल सेनपालकी प्रशंसामें किसीएक कविने हिन्दी भाषामें एक कविता लिखी है जो पाठनके किसीएक भंडारमें हमारे देखनेमें आई थी और जिसकी नकल हमने अपनी नोटबुकमें कर ली थी । उसका संबंध इस लेखके साथ होनेसे हम यहां उसे प्रकट किये देते हैं ।—संपादक ।]

कोरपाल सोनपाल लोढा गुणप्रशंसा कवित्त

सगर भरथ जगि, जगडु जावड भये । पेमराय सारंग, सुजश नाम धरणी ॥ १
 सेत्रुजे संघ चलायो, सुधन सुखेत बायो । संघपतिपद पायो, कवि कोटि किर्ति बरणी ॥ २
 लांहनि कडाहि ठांम, ठांम द्रुग भान कहि । आनंद मंगल घरि घरि गावे घरणी ॥ ३
 वस्तपाल तेजपाल, हुये रेखचंद नंद । कोरपाल सोनपाल, कीनी भली करणी ॥ ४
 कहि लखमण लोढा, दूनीकुं दिखाइ देख । ललिको प्रमान जोपे, एसो लाह लीजिये ॥ ५
 आन संघपति कोउ, संघ जोपे कीयो चाहे । कोरपाल सोनपाल,—को सो संघ कीजिये ॥ ६
 सबल राय बिभार, निबल थापना चार । बाधा राइ बंदि छोर, अरि उर साजको ॥ ७
 अडेराय अवठंभ, खितीपती रायखंभ । मंत्रीराय आरंभ, भगट सुभ साजको ॥ ८
 कवि कहि रूप भूप, राइन मुकटमनि । त्यागी राई तिलक, बिरद गज बाजको ॥ ९
 हय गय हेमदान, मान नंदकी समान । हिंदु सुरताण, सोनपाल रेखराजको ॥ १०
 सैन बर आसनके, पैजपर पासनके । निजदल रंजन, भंजन पर दलको ॥ ११
 मदमतवारे, बिकरारे, अति भारे भारे । कारे कारे बादरसे, बाखव सुजलके ॥ १२
 कवि कहि रूप, नृप भुपतिनिके सिंगार । अति बडवार ऐरापति समबलके ॥ १३
 रेखराजनंदकोर पाल सोनपालचंद । हेतवानि देत ऐसे हाथिनिके हलके ॥ १४

सोमदेवसूरिकृत नीतिवाक्यामृत ।

(ग्रन्थ परिचय)

[लेखक—श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी.]

[श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीकी देखरेखमें बम्बईसे जो माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैनग्रन्थ-माला प्रकट होती है, उसमें अर्धा हाल ही सोमदेवसूरिकृत नीतिवाक्यामृत नामका एक अमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है । इस ग्रन्थके कर्ता और विषय आदिका विस्तृत परिचय करानेके लिए प्रेमीजीने ग्रन्थके प्रारम्भमें एक पाण्डित्यपूर्ण और अनेक ज्ञातव्य बातोंसे भरपूर सुन्दर प्रस्तावना लिखी है जो प्रत्येक साहित्य और इतिहास प्रेमीके लिए अवश्य पठनीय और मननीय है । इस लिए हम लेखक महाशयकी अनुमति लेकर, जैनसाहित्यसंशोधकके पाठकोंके ज्ञानार्थ, उस प्रस्तावनाको अविकलतया यहाँ पर प्रकट करते हैं—संपादक ।]

श्रीमत्सोमदेवसूरिका यह ' नीतिवाक्यामृत ' संस्कृत साहित्य-सागरका एक अमूल्य और अनुपम रत्न है । इसका प्रधान विषय राजनीति है । राजा और उसके राज्यशासनसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी आवश्यक बातोंका इसमें विवेचन किया गया है । यह सारा ग्रन्थ गद्यमें है और सूत्रपद्धतिसे लिखा गया है । इसकी प्रतिपादनशैली बहुत ही सुन्दर, प्रभावशालिनी और गंभीरतापूर्ण है । बहुत बड़ी बातको एक छोटेसे वाक्यमें कह देनेकी कलामें इसके कर्ता सिद्धहस्त हैं । जैसा कि ग्रन्थके नामसे ही प्रकट होता है, इसमें विशाल नीतिसमुद्रका मन्थन करके सारभूत अमृत संग्रह किया गया है और इसका प्रत्येक वाक्य इस बातकी साक्षी देता है । नीतिशास्त्रके विद्यार्थी इस अमृतका पान करके अवश्य ही सन्तुष्ट होंगे ।

यह ग्रन्थ ३२ समुद्देशोंमें × विभक्त है और प्रत्येक समुद्देशमें उसके नामके अनुसार विषय प्रतिपादित है ।

प्राचीन राजनीतिक साहित्य ।

राजनीति, चार पुरुषार्थोंमेंसे दूसरे अर्थपुरुषार्थके अन्तर्गत है । जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन भारतवासियोंने ' धर्म ' और ' मोक्ष ' को छोड़कर अन्य पुरुषार्थोंकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, वे इस देशके प्राचीन साहित्यसे अपरिचित हैं । यह सच है कि पिछले समयमें इन विषयोंकी ओरसे लोग उदासीन होते गये, इनका पठन पाठन बन्द होता गया और इस कारण इनके सम्बन्धका जो साहित्य था वह धीरे धीरे नष्टप्राय होता गया । फिर भी इस बातके प्रमाण मिलते हैं कि राजनीति आदि विद्याओंकी भी यहाँ खूब उन्नति हुई थी और इनपर अनेकानेक ग्रन्थ लिखे गये थे ।

वात्स्यायनके कामसूत्रमें लिखा है कि प्रजापतिने प्रजाके स्थितिप्रबन्धके लिए त्रिवर्गशासन—(धर्म-अर्थ-काम-विषयक महाशास्त्र) बनाया जिसमें एक लाख अध्याय थे । उसमेंके एक एक भागको लेकर मनुने धर्माधिकार, बृहस्पतिने अर्थाधिकार, और नन्दीने कामसूत्र, इस प्रकार तीन अधिकार बनाये * । इसके बाद इन तीनों विषयोंपर उत्तरात्तर

× “ समुद्देशाश्च संक्षेपाभिधानम् ”—कामसूत्रटीका, अ० ३ ।

* “ प्रजापतिर्हि प्रजाः सृष्ट्वा तासां स्थितिनिबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्रेणाग्रे प्रोवाच । तस्यैक-देशिकं मनुः स्वार्थमुक्तो धर्माधिकारकं पृथक् चकार । बृहस्पतिरर्थोपकारम् । नन्दी सहस्रेणाध्यायानां पृथक्कामसूत्रं चकार । ”—कामसूत्र अ० १ ।

संक्षिप्त ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। पुराणोंमें भी लिखा है कि प्रजापतिके उक्त एक लाख अध्यायवाले त्रिवर्ग-शासनके नारद, इन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, विशालाक्ष, भीष्म, पराशर, मनु, अन्यान्य महर्षि और विष्णुगुप्त (चाणक्य) ने संक्षिप्त करके पृथक् पृथक् ग्रन्थोंकी रचना की। परन्तु इस समय उक्त सब साहित्य प्रायः नष्ट हो गया है। कामपुरुषार्थ पर वात्स्यायनका कामसूत्र, अर्थपुरुषार्थ पर विष्णुगुप्त या चाणक्यका अर्थशास्त्र और धर्मपुरुषार्थ पर मनुके धर्मशास्त्रका संक्षिप्तसार 'मानव धर्मशास्त्र'—जो कि भृगु नामक आचार्यका संग्रह किया हुआ है और मनुस्मृतिके नामसे प्रसिद्ध है—उपलब्ध है।

उक्त ग्रन्थोंमेंसे राजनीतिका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' अभी १३-१४ वर्ष पहले ही उपलब्ध हुआ है और उसे मैसूरकी यूनीवर्सिटीने प्रकाशित किया है। यह अबसे लगभग २२०० वर्ष पहले लिखा गया था। सुप्रसिद्ध मौर्यवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्तके लिए—जो कि हमारे कथाग्रन्थोंके अनुसार जैनधर्मके उपासक थे और जिन्होंने अन्तमें जिनदीक्षा धारण की थी*—आर्य चाणक्यने इस ग्रन्थको निर्माण किया था। नन्दवंशका समूल उच्छेद करके उसके सिंहासन पर चन्द्रगुप्तको आसीन करानेवाले चाणक्य कितने बड़े राजनीतिज्ञ होंगे, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है। उनकी राजनीतिज्ञताका सबसे अधिक उज्ज्वल प्रमाण यह अर्थशास्त्र है। यह बड़ा ही अद्भुत ग्रन्थ है और उस समयकी शासनव्यवस्था पर ऐसा प्रकाश डालता है जिसकी पहले किसीने कल्पना भी न की थी। इसे पढ़नेसे मालूम होता है कि उस प्राचीन कालमें भी इस देशने राजनीतिमें आश्चर्यजनक उन्नति कर ली थी। इस ग्रन्थमें मनु, भारद्वाज, उशना (शुक्र), बृहस्पति, विशालाक्ष, पिशुन, पराशर, वातव्याधि, कौणपदन्त और बाहुदन्तीपुत्र नामक प्राचीन आचार्योंके राजनीतिसम्बन्धी मतोंका जगह जगह उल्लेख मिलता है। आर्य चाणक्य प्रारंभमें ही कहते हैं कि पृथिवीके लाभ और पालनके लिए पूर्वाचार्योंने जितने अर्थशास्त्र प्रस्थापित किये हैं, प्रायः उन सबका संग्रह करके यह अर्थशास्त्र लिखा जाता है। इससे मालूम होता है कि चाणक्यसे भी पहले इस विषयके अनेकानेक ग्रन्थ मौजूद थे और चाणक्यने उन सबका अध्ययन किया था। परन्तु इस समय उन ग्रन्थोंका कोई पता नहीं है।

चाणक्यके बादका एक और प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध है जिसका नाम 'नीतिसार' है और जिसे संभवतः चाणक्यके ही शिष्य कामन्दक नामक विद्वाने अर्थशास्त्रको संक्षिप्त करके लिखा है। अर्थशास्त्र प्रायः गद्यमें है; परन्तु नीतिसार श्लोकबद्ध है। यह भी अपने ढंगका अपूर्व और प्रामाणिक ग्रन्थ है और अर्थशास्त्रको समझनेमें इससे बहुत सहायता मिलती है। इसमें भी विशालाक्ष, पुलोमा, यम आदि प्राचीन नीतिग्रन्थकर्त्ताओंके मतोंका उल्लेख है।

+ ब्रह्माध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम् । तन्नारदेन शक्रेण मुरुणा भार्गवेण च ॥
भारद्वाजविशालाक्षभीष्मपाराशरैस्तथा । संक्षिप्तं मनुना चैव तथा चान्यैर्महर्षिभिः ॥
प्रजानामायुषो हासं विज्ञाय च महात्मना । संक्षिप्तं मनुना चैव तथा चान्यैर्महर्षिभिः ॥
प्रजानामायुषो हासं विज्ञाय च महात्मनाः । संक्षिप्तं विष्णुगुप्तेन नृपाणामर्थसिद्धये ॥
ये श्लोक हमने गुजरातीटीकासाहित कामन्दकीय नीतिसारकी भूमिका परसे उद्धृत किये हैं; परन्तु उससे यह नहीं मालूम हो सका कि ये किस पुराणके हैं।

* सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ मि० विन्सेण्ट स्मिथ आदि विद्वान् भी इस बातको संभव समझते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्मके उपासक थे। 'त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति' नामक प्राकृत ग्रन्थमें—जो विक्रमकी पाँचवीं शताब्दिके लगभगका है—लिखा है कि मुकुटधारी राजाओंमें सबसे अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त था जिसने जिनदीक्षा ली।—देखो जैनहितैषी वर्ष १३, अंक १२।

× सर्वशास्त्रानुपक्रम्य प्रयोगानुपलभ्य च । कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः ॥

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः । अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥

+ पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायश्चास्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् ।

÷ देखो गुजराती प्रेस बम्बईके 'कामन्दकीय नीतिसार' की भूमिका।

कामन्दकके नीतिसारके बाद जहाँ तक हम जानते हैं, यह नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ ही ऐसा बना है, जो उक्त दोनों ग्रन्थोंकी श्रेणीमें रक्खा जा सकता है और जिसमें शुद्ध राजनीतिकी चर्चा की गई है। इसका अध्ययन भी कौटिलीय अर्थशास्त्रके समझनेमें बड़ी भारी सहायता देता है।

नीतिवाक्यामृतके कर्ताने भी अपने द्वितीय ग्रन्थ (यशस्तिलक) में शुक, शुक्र, विशालाक्ष, भारद्वाजके नीतिशास्त्रोंका उल्लेख किया है*। मनुके भी बीसों श्लोकोंको उद्धृत किया है +। नीतिवाक्यामृतमें विष्णुगुप्त या चाणक्यका और उनके अर्थशास्त्रका उल्लेख है×। बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, आदिके अभिप्रायोंको भी उन्होंने नीतिवाक्यामृतमें संग्रह किया है जिसका स्पष्टीकरण नीतिवाक्यामृतकी इस संस्कृत टीकासे होता है। स्मृतिकारोंसे भी वे अच्छी तरह परिचित मालूम होते हैं +। इससे हम कह सकते हैं कि नीतिवाक्यामृतके कर्ता पूर्वाक्त राजनीतिके साहित्यसे यथेष्ट परिचित थे। बहुत संभव है कि उनके समयमें उक्त सबका सब साहित्य नहीं तो उसका अधिकांश उपलब्ध होगा। कमसे कम पूर्वाक्त आचार्योंके ग्रन्थोंके सार या संग्रह आदि अवश्य मिलते होंगे।

इन सब बातोंसे और नीतिवाक्यामृतको अच्छे तरह पढ़नेसे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि नीतिवाक्यामृत प्राचीन नीतिसाहित्यका सारभूत अमृत है। दूसरे शब्दोंमें यह उन सबके आधारसे और कविकी विलक्षण प्रातभोसे प्रसूत हुआ संग्रह ग्रन्थ है। जिस तरह कामन्दकने चाणक्यके अर्थशास्त्रके आधारसे संक्षेपमें अपने नातिसारका निर्माण किया है, उसी प्रकार सोमदेवसूरने उनके समयमें जितना नीतिसाहित्य प्राप्त था उसके आधारसे यह नीतिवाक्यामृत निर्माण किया है +। दोनोंमें अन्तर यह है कि नातिसार श्लोकबद्ध है और केवल अर्थशास्त्रके आधारसे लिखा गया है, परन्तु नीतिवाक्यामृत गद्यमें है और अनेकानेक ग्रन्थोंके आधारसे निर्माण हुआ है, यद्यपि अर्थशास्त्रकी भी इसमें यथेष्ट सहायता ली गई है।

कौटिलीय अर्थशास्त्रकी भूमिकामें श्रुतयुत शासनास्त्रोंने लिखा है कि, “यच्च यशोधरमहाराजसमकालेन सोमदेवसूरिणा नीतिवाक्यामृतं नाम नीतिशास्त्रं विरचितं तदपि कामन्दकोयमिव कौटिलीयार्थशास्त्रोदव संक्षिप्य संगृहीतमिति तत्प्रन्थपदवाक्यशैलीपरीक्षायां निस्संशयं ज्ञायते।” अर्थात् यशोधर महाराजके समकालिक सोमदेवसूरने जो ‘नीतिवाक्यामृत’ नामका ग्रन्थ लिखा है उसके पद और वाक्योंकी शैलीकी परीक्षासे यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वह भी कामन्दकके नीतिसारके समान कौटिलीय अर्थशास्त्रसे ही संक्षिप्त करके लिखा गया है*। परन्तु हमारी समझमें

*“न्यायादवसरमलभमानस्य चिरसेवकसमाजस्य विज्ञप्तय इव नर्मसचिवोक्तयः प्रतिपन्नकामचरव्यवहारेषु स्वैरविहारेषु मम गुरुशुकविशालाक्षपरीक्षितपराशरभीमर्भाभ्यभारद्वाजादिप्रणीतनीतिशास्त्रश्रवणसनाथं श्रुतपथमभजन्तः।”—यशस्तिलकचम्पू, आशवास २, पृ० २३६।

+ “दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः। समं सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥

इति कथमिदमाह वैवस्वतो मनुः।”—यशस्तिलक आ० ४, पृष्ठ १००। यह श्लोक मनुस्मृति अ० ६ का ६६ वाँ श्लोक है। इसके सिवाय यशस्तिलक आशवास ४, पृ० ९०—९१—११६ (प्रोक्षितं भक्षयेत्), ११७ (क्रीत्वा स्वयं), १२७ (सभी श्लोक), १४९ (सभी श्लोक), २८७ (अर्थात्) के श्लोक भी मनुस्मृतिमें ज्योंके त्यों मिलते हैं। यद्यपि वहाँ यह नहीं लिखा है कि ये मनुके हैं। ‘उक्तं च’ रूपमें ही दिये हैं।

× नीतिवाक्यामृत पृष्ठ० ३६ सूत्र ९, पृ० १०७ सूत्र ४, पृ० १७१ सूत्र १४ आदि।

+ “विप्रकीर्तावृद्धापि पुनर्विवाहदीक्षामर्हतीति स्मृतिकाराः”—नी० वा० पृ० ३७७, सू० २७; “श्रुतेः स्मृतेर्बाह्याबाह्यतरे;”—यशस्तिलक आ० ४, पृ० १०५; “श्रुतिस्मृतीभ्यामतीव बाह्ये”—यशस्तिलक आ० ४, पृ० १११; “तथा च स्मृतिः”—पृ० ११६; और “इति स्मृतिकारकीर्तितप्रमाणीकृत्य”—पृ० २८७।

÷ यशस्तिलक आ० ४ पृ० १०० में नीतिकार भारद्वाजके षाड्गुण्य प्रस्तावके दो श्लोक और विशालाक्षके कुछ वाक्य दिये हैं। ये विशालाक्ष संभवतः वे ही नीतिकार हैं जिनका उल्लेख अर्थशास्त्र और नीतिसारमें किया गया है।

* शास्त्रीजीका यह बड़ा भारी भ्रम है, जो सोमदेवसूरिकी वे यशोधर महाराजके समकालिक समझते हैं। यशोधर जैनोके एक पुराणपुरुष हैं। इनका चरित सोमदेवसे भी पहले पुष्पदन्त, बच्छराय आदि कवियोंने लिखा है। पुष्पदन्तका समय शकसंवत् ६०६ के लगभग है। और बच्छराय पुष्पदन्तसे भी पहले हुए हैं।

शास्त्रीजीने उक्त परीक्षा बारीकीसे या अच्छी तरह विचार करके नहीं की है। यह हम मानते हैं कि नीतिवाक्यामृतकी रचनामें अर्थशास्त्रकी सहायता अवश्य ली गई है, जैसा कि आगे दिये हुए दोनोंके अवतरणोंसे मालूम होगा। पाठक देखेंगे कि दोनोंमें विलक्षण समता है, कहीं कहीं तो दोनोंके पाठ बिल्कुल एकसे मिल गये हैं। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि नीतिवाक्यामृत अर्थशास्त्रका ही संक्षिप्त सार है। अर्थशास्त्रका अनुधावन करनेवाला होकर भी वह अनेक अंशोंमें बहुत कुछ स्वतंत्र है। अर्थशास्त्रके अतिरिक्त अन्यान्य नीतिशास्त्रोंके अभिप्राय भी उसमें अपने ढंगसे समावेशित किये गये हैं। इसके सिवाय ग्रन्थकर्ताने अपने देश-काल पर दृष्टि रखते हुए बहुत सी पुरानी बातोंको—जिनकी उस समय जरूरत नहीं रही थी या जो उनकी समझमें अनुचित थीं—छोड़ दिया है या परिवर्तित कर दिया है। साथ ही बहुतसी समयोपयोगी बातें शामिल भी कर दी हैं।

यहाँ हम अर्थशास्त्र और नीतिवाक्यामृतके ऐसे अवतरण देते हैं जिनसे दोनोंकी समानता प्रकट होती है:—

१—दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा न प्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति, किमङ्ग पुनर्गृहस्थान् ।
अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति । बलीयानबलं प्रसते दण्डधराभावे । —अर्थशास्त्र पृ० ९ ।

दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वजनविद्वेषं करोति । अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्यन्यायमुद्भावयति ।
बलीयानबलं प्रसते (इति मात्स्यन्यायः) । — नीतिशा० पृ० १०४-५ ।

२—ब्रह्मचर्यं चाषोडशाद्वर्षात् । अतो गोदानं दारकर्म च । —अर्थ० पृ० १० ।

ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततो गोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य । —नी० १६७ ।

३—पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडङ्गं वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमा-
पदां दैवमानुषाणां अथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्तारं कुर्वीत । —अर्थ० पृ० १५-१६ ।

पुरोहितमुदितकुलशीलं षडङ्गवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषाणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत ।
—नीति० पृ० १५९ ।

४ परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः । —अर्थ पृ० १८ ।

परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः । — नी० पृ० १७३ ।

५—ध्रूयते हि शुक्रसारिकाभिः मन्त्रो भिन्नः इवभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः । तस्मान्मन्त्रोद्देश-
मनायुक्तो नोपगच्छेत् । —अर्थ० पृ० २६ ।

अनायुक्तो न मन्त्रकाले तिष्ठेत् । ध्रूयते हि शुक्रसारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्रभेदः कृतः । —नीति० पृ० ११८ ।

६—द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवति । षोडशवर्षः पुमान् । —अर्थ० १५४ ।

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः । —नीति० ३७३ ।

इस तरहके और भी अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं ।

यहाँपर पाठकोंको यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि चाणक्यने भी तो अपने पूर्ववर्ती विशालाक्ष, भारद्वाज, बृहस्पति आदिके ग्रन्थोंका संग्रह करके अपना ग्रन्थ लिखा है* । ऐसी दशामें यदि सोमदेवकी रचना अर्थशास्त्रसे मिलती जुलती हो, तो क्या आश्चर्य है । क्योंकि उन्होंने भी उन्हीं ग्रन्थोंका मन्थन करके अपना नीतिवाक्यामृत लिखा है। यह दूसरी बात है कि नीतिवाक्यामृतकी रचनाके समय ग्रन्थकर्ताके सामने अर्थशास्त्र भी उपस्थित था ।

परन्तु पाठक इससे नीतिवाक्यामृतके महत्त्वको कम न समझ लें । ऐसे विषयोंके ग्रन्थोंका अधिकांश भाग संग्रह रूप ही होता है । क्योंकि उसमें उन सब तत्त्वोंका समावेश तो नितान्त आवश्यक ही होता है जो ग्रन्थकर्ताके पूर्वलेखकों द्वारा उस शास्त्रके सम्बन्धमें निश्चित हो चुके हैं । उनके सिवाय जो नये अनुभव और नये तत्त्व उपलब्ध होते हैं उन्हें ही वह विशेषरूपसे अपने ग्रन्थमें लिपिबद्ध करता है । और हमारी समझमें नीतिवाक्यामृत ऐसी बातोंसे ज़ाकी नहीं है । ग्रन्थकर्ताकी स्वतंत्र प्रतिभा और मौलिकता उसमें जगह जगह प्रस्फुटित हो रही है ।

* देखो पृष्ठ ५ की टिप्पणी 'पृथिव्या लाभे' आदि ।

ग्रन्थकर्ताका परिचय ।

गुरुपरम्परा ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है नीतिवाक्यामृतके कर्ता श्रीसोमदेवसूरि हैं । वे देवसंघके आचार्य थे । दिगम्बर-सम्प्रदायके सुप्रसिद्ध चार संघोंमेंसे यह एक है । मंगराज कविके कथनानुसार यह संघ सुप्रसिद्ध तार्किक **महाकलंक-देव**के बाद स्थापित हुआ था । अकलंकदेवका समय विक्रमकी ९ वीं शताब्दिका प्रथम पाद है । *

सोमदेवके गुरुका नाम **नेमिदेव** और दादागुरुका नाम **यशोदेव** था । यथा:—

श्रीमानसित स देवसंघतिलको देवो यशःपूर्वकः,

शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणानीधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः ।

तस्याश्चर्यतपः स्थितोऽस्त्रिनवतेजैर्तुर्महावादिनां,

शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रमः ॥ —यशस्तिलकचम्पू ।

नीतिवाक्यामृतकी गद्यप्रशस्तिसे भी यह मालूम होता है कि वे नेमिदेवके शिष्य थे । साथ ही उसमें यह भी लिखा है कि वे **महेन्द्रदेव** भट्टारकके अनुज थे । इन तीनों महात्माओं—**यशोदेव**, **नेमिदेव** और **महेन्द्रदेव**के सम्बन्धमें हमें ओर कोई भी बात मालूम नहीं है । न तो इनकी कोई रचना ही उपलब्ध है और न अन्य किसी ग्रन्थादिमें इनका कोई उल्लेख ही मिला है । इनके पूर्वके आचार्योंके विषयमें भी कुछ ज्ञात नहीं है । सोमदेवसूरिकी शिष्यपरम्परा भी अज्ञात है । यशस्तिलकके टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरिने एक जगह लिखा है कि वादिराज और वादीमसिंह, दोनों ही सोमदेवके शिष्य थे X; परन्तु इसके लिए उन्होंने जो प्रमाण दिया है वह किस ग्रन्थका है, इसके जाननेका कोई साधन नहीं है । यशस्तिलककी रचना शकसंवत् ८८१ (विक्रम १०१६) में समाप्त हुई है और वादिराजने अपना पादर्वनाथचरित शकसंवत् ९४७ (वि० १०८२) में पूर्ण किया है; अर्थात् दोनोंके बीचमें ६६ वर्षका अन्तर है । ऐसी दशामें उनका गुरु शिष्यका नाता होना दुर्घट है । इसके सिवाय वादिराजके गुरुका नाम मतिसागर था और वे द्रविड संघके आचार्य थे । अब रहे वादीमसिंह, सो उनके गुरुका नाम पुष्पवेण था और पुष्पवेण अकलंकदेवके गुरुभाई थे, इसलिए उनका समय सोमदेवसे बहुत पहले जा पड़ता है । ऐसी अवस्थामें वादिराज और वादीमसिंहको सोमदेवका शिष्य नहीं माना जा सकता । ग्रन्थकर्ताके गुरु बड़े भारी तार्किक थे । उन्होंने ९३ वादियोंको पराजित करके विजयकीर्ति प्राप्त की थी +।

इसी तरह महेन्द्रदेव भट्टारक भी दिग्विजयी विद्वान् थे । उनका 'वादीन्द्रकालानल' उपपद ही इस बातकी घोषणा करता है ।

तार्किक सोमदेव ।

श्रीसोमदेवसूरि भी अपने गुरु और अनुजके सदृश बड़े भारी तार्किक विद्वान् थे । वे इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें कहते हैं:—

अल्पेऽनुग्रहधीः सभे सुजनता मान्ये महानादरः, सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि ।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रह—स्तस्यास्त्वित्तगर्वपर्वतपविर्मद्वक्कृतान्तायते ॥

सारांश यह कि मैं छोटोंके साथ अनुग्रह, बराबरीवालोंके साथ सुजनता और बड़ोंके साथ महान् आदरका बर्ताव करता हूँ । इस विषयमें मेरा चरित्र बहुत ही उदार है । परन्तु जो मुझे ऐंठ दिखाता है, उसके लिए, गर्वरूपी पर्वतको विध्वंस करनेवाले मेरे वज्र-वचन कालस्वरूप हो जाते हैं ।

* देखो जैनहितैषी भाग ११, अंक ७—८ ।

X "उक्तं च वादिराजेन महाकविना—.....स वादिराजोऽपि श्रीसोमदेवाचार्यस्य शिष्यः—

वादीमसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः इत्युक्तवाच ।"

—यशस्तिलकटीका आ० २, पृ० २६५ ।

+ यशस्तिलकके ऊपर उद्धृत हुए श्लोकमें उन महावादियोंकी संख्या—जिनको श्रीनेमिदेवने पराजित किया था—तिरानवे बतलाई है; परन्तु नीतिवाक्यामृतकी गद्यप्रशस्तिमें पचपन है । मालूम नहीं, इसका क्या कारण है ।

दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिहनादे, वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाचिवादे ।

श्रीसोमदेवमुनिपे वचनारसाले, वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले ॥

भाव यह कि अभिमानी पण्डित गजोंके लिए सिंहके समान ललकारनेवाले और वादिगजोंको दलित करनेवाला दुर्धर विवाद करनेवाले श्रीसोमदेव मुनिके सामने, वादके समय वागीश्वर या देवगुरु बृहस्पति भी नहीं ठहर सकते हैं ।

इसी तरहके और भी कई पद्य हैं जिनसे उनका प्रखर और प्रचण्ड तर्कपाण्डित्य प्रकट होता है ।

यशस्तिलक चम्पूकी उत्थानिकामें कहा है:—

आजन्मकृदभ्यासाच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः ।

मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तपयः सुकृतिनां पुण्यैः ॥ १७

अर्थात् मेरी जिस बुद्धिरूपी गौने जीवन भर तर्करूपी सूखा घास खाया, उसीसे अब यह काव्यरूपी दुग्ध उत्पन्न हो रहा है । इस उक्तिसे अच्छी तरह प्रकट होता है कि श्रीसोमदेवसूरिने अपने जीवनका बहुत बड़ा भाग तर्कशास्त्रके अभ्यासमें ही व्यतीत किया था । उनके स्याद्वादाचलसिंह, वादीभपंचानन और तार्किकचक्रवर्ती पद भी इसी बातके शोतक हैं ।

परन्तु वे केवल तार्किक ही नहीं थे—काव्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र और राजनीति आदिके भी धुरंधर विद्वान् थे ।

महाकवि सोमदेव ।

उनका यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य—जो निर्णगसागर की काव्यमालामें प्रकाशित हो चुका है—इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे महाकवि थे और काव्यकला पर भी उनका असाधारण अधिकार था । समूचे संस्कृत साहित्यमें यशस्तिलक एक अद्भुत काव्य है और कवित्वके साथ उसमें ज्ञानका विशाल खजाना संगृहीत है । उसका गद्य भी कादम्बरी तिलकमञ्जरी आदिकी टक्करका है । सुभाषितोंका तो उसे आकर ही कहना चाहिए । उसकी प्रशंसामें स्वयं ग्रन्थकर्त्ताने यत्रतत्र जो सुन्दर पद्य कहे हैं, वे सुनने योग्य हैं:—

असहायमनादर्शं रत्नं रत्नाकरादिव ।

मत्तः काव्यामिदं जातं सतां हृदयमण्डनम् ॥ १४ —प्रथम आश्वास ।

समुद्रसे निकले हुए असहाय, अनादर्श और सज्जनोंके हृदयकी शोभा बढ़ानेवाले रत्नकी तरह मुझमें भी यह असहाय (मौलिक), अनादर्श (बेजोड़) और हृदयमण्डन काव्यरत्न उत्पन्न हुआ ।

कर्णाञ्जलिपुटैः पातुं चेतः सूक्तामृतं यदि ।

श्रूयतां सोमदेवस्य नव्याः काव्योक्तियुक्तयः ॥ २४६ ॥ —द्वितीय आ० ।

यदि आपका चित्त कानोंकी अँजुलीसे सूक्तामृतका पान करना चाहता है, तो सोमदेवकी नई नई काव्योक्तियों सुनिए ।

लोकावित्त्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चयः ।

सोमदेवकेवः सूक्तिं समभ्यस्यन्तु साधवः ॥ ५१३ ॥ —तृतीय आ० ।

यदि सज्जनोंकी यह इच्छा हो कि वे लोकव्यवहार और कवित्वमें चातुर्य प्राप्त करें तो उन्हें सोमदेव कविकी सूक्तियोंका अभ्यास करना चाहिए ।

मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे ।

कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥ —चतुर्थ आ०, पृ० १६५ ।

मैं शब्द और अर्थपूर्ण सारे सारस्वत रस (साहित्य रस) का स्वाद ले चुका हूँ, अतएव अब जितने दूसरे कवि होंगे, वे निश्चयसे उच्छिष्टभोजी या जूठा खानेवाले होंगे—वे कोई नई बात न कह सकेंगे ।

अरालकालव्यालेन ये लीढा सारप्रतं तु ते ।

शब्दाः श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥ —पंचम आ०, पृ० २६६ ।

समयरूपी विकट सर्पने जिन शब्दोंको निगल लिया था, अतएव जो मृत हो गये थे, यदि उन्हें श्रीसोमदेवने उठा दिया, जिला दिया—तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए । (इसमें ' सोमदेव ' शब्द श्लिष्ट है । सोम चन्द्रवाची है और चन्द्रकी अमृत-किरणोंसे विषमूर्च्छित जीव सचेत हो जाते हैं ।)

उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नैः

पर्यागतैरिव चिरादभिधानरत्नैः ।

या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा

वाग्देवता वहतु सम्प्रति तामनर्धाम् ॥ —पं० आ०, पृ० २६६ ।

चिरकालसे शास्त्रसमुद्रके बिल्कुल नीचे डूबे हुए शब्द-रत्नोंका उद्धार करके सोमदेव पण्डितने जो यह बहुमूल्य आभूषण (काव्य) बनाया है, उसे श्रीसरस्वती देवी धारण करें ।

इन उक्तियोंसे इस बातका आभास मिलता है कि आचार्य सोमदेव किस श्रेणीके कवि थे और उनका उक्त महाकाव्य कितना महत्त्वपूर्ण है । पूर्वोक्त उक्तियोंमें अभिमानकी मात्रा विशेष रहने पर भी वे अनेक अंशोंमें सत्य जान पड़ती हैं । सचमुच ही यशस्तिलक शब्दरत्नोंका बड़ा भारी खजाना है और यदि माधकाव्यके समान कहा जाय कि इस काव्यको पढ़ लेने पर फिर कोई नया शब्द नहीं रह जाता, तो कुछ अत्युक्ति न होगी । इसी तरह इसके द्वारा सभी विषयोंकी व्युत्पत्ति हो सकती है । व्यवहारदक्षता बढ़ानेकी तो इसमें ढेर सामग्री है ।

महाकवि सोमदेवके वाक्कल्लोलपयोनिधि, कविराजकुंजर और गद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्ती विशेषण, उनके श्रेष्ठकवि-त्वके ही परिचायक हैं ।

धर्माचार्य सोमदेव ।

यद्यपि अभीतक सोमदेवसूरिका कोई स्वतंत्र धार्मिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; परन्तु यशस्तिलकके अन्तिम दो आश्वास—जिनमें उपासकाध्ययन या श्रावकोंके आचारका निरूपण किया गया है—इस बातके साक्षी हैं कि वे धर्मके कैसे मर्मज्ञ विद्वान् थे । स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डके बाद श्रावकोंका आचारशास्त्र ऐसी उत्तमता, स्वाधीनता और मार्मिकताके साथ इतने विस्तृतरूपमें आजतक किसी भी विद्वानकी कलमसे नहीं लिखा गया है । जो लोग यह समझते हैं कि धर्मग्रन्थ तो परम्परासे चले आये हुए ग्रन्थोंके अनुवादमात्र होते हैं—उनमें ग्रन्थकर्ता विशेष क्या कहेगा, उन्हें यह उपासकाध्ययन अवश्य पढ़ना चाहिए और देखना चाहिए कि धर्मशास्त्रोंमें भी मौलिकता और प्रतिभाके लिए कितना विस्तृत क्षेत्र है । खेद है कि जैनसमाजमें इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके पठन पाठनका प्रचार बहुत ही कम है और अब तक इसका कोई हिन्दी अनुवाद भी नहीं हुआ है । नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें लिखा है:—

सकलसमयतर्कं नाकलंकोऽसि घादिन् न भवासि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।

न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥

अर्थात् हे वादी, न तो तू समस्तदर्शन शास्त्रों पर तर्क करनेके लिए अकलंकदेवके तुल्य है, न जैनसिद्धान्तको कहनेके लिए हंससिद्धान्तदेव है और न व्याकरणमें पूज्यपाद है, फिर इस समय सोमदेवके साथ किस बिरते पर बात करने चला है ? *

इस उक्तिसे स्पष्ट है कि सोमदेवसूरि तर्क और सिद्धान्तके समान व्याकरणशास्त्रके भी पण्डित थे ।

राजनीतिज्ञ सोमदेव ।

सोमदेवके राजनीतिज्ञ होनेका प्रमाण यह नीतिवाक्यामृत तो है ही, इसके सिवाय उनके यशस्तिलकमें भी यशोधर महाराजका चरित्रचित्रण करते समय राजनीतिकी बहुत ही विशद और विस्तृत चर्चा की गई है । पाठकोंको-चाहिए कि वे इसके लिए यशस्तिलकका तृतीय आश्वास अवश्य पढ़ें ।

यह आश्वास राजनीतिके तत्त्वोंसे भरा हुआ है । इस विषयमें वह अद्वितीय है । वर्णन करनेकी शैली बड़ी ही सुन्दर है । कवित्वकी कमनीयता और सरसतासे राजनीतिकी नीरसता मालूम नहीं कहाँ चली गई है । नीतिवाक्यामृतके

* अकलंकदेव—अष्टशती, राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंके रचयिता । हंससिद्धान्तदेव—ये कोई सैद्धान्तिक आचार्य जान पड़ते हैं । इनका अब तक और कहीं कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आया । पूज्यपाद—देवनाग्नि, जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ता ।

अनेक अंशोंका अभिप्राय उसमें किसी न किसी रूपमें अन्तर्निहित जान पड़ता है + ।

जहाँ तक हम जानते हैं जैनविद्वानों और आचार्योंमें—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनोंमें—एक सोमदेवने ही 'राजनीतिशास्त्र' पर कलम उठाई है। अतएव जैनसाहित्यमें उनका नीतिवाक्यामृत अद्वितीय है। कमसे कम अब तक तो इस विषयका कोई दूसरा जैनग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

ग्रन्थ-रचना ।

इस समय सोमदेवसूरिके केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलकचम्पू । इनके सिवाय—जैसा कि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिसे मालूम होता है—तीन ग्रन्थ और भी हैं—१ युक्तिचिन्तामणि, २ त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प और ३ वणवतिप्रकरण । परन्तु अभी तक ये कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं। उक्त ग्रन्थोंमेंसे युक्तिचिन्तामणि तो अपने नामसे ही तर्कग्रन्थ मालूम होता है और दूसरा शायद नीतिवर्षयक होगा। महेन्द्र और उसके सारथी मातलिके संवादरूपमें उसमें त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और कामकी चर्चा की गई होगी। तीसरेके नामसे सिवाय इसके कि उसमें ९६ प्रकरण या अध्याय हैं, विषयका कुछ भी अनुमान नहीं हो सकता है।

इन सब ग्रन्थोंमें नीतिवाक्यामृत ही सबसे पिछला ग्रन्थ है। यशोधरमहाराजचरित या यशस्तिलक इसके पहलेका है। क्योंकि नीतिवाक्यामृतमें उसका उल्लेख है। बहुत संभव है कि नीतिवाक्यामृतके बाद भी उन्होंने ग्रन्थरचना की हो और उक्त तीन ग्रन्थोंके समान वे भी किसी जगह दीमक या चूहोंके खाद्य बन रहे हों, या सर्वथा नष्ट ही हो चुके हों।

विशाल अध्ययन ।

यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृतके पढ़नेसे मालूम होता है कि सोमदेवसूरिका अध्ययन बहुत ही विशाल था। ऐसा जान पड़ता है कि उनके समयमें जितना साहित्य—न्याय, व्याकरण, काव्य, नीति, दर्शन आदि सम्बन्धी—उपलब्ध था, उस सबसे उनका परिचय था। केवल जैन ही नहीं, जैनेतर साहित्यसे भी वे अच्छी तरह परिचित थे। यशस्तिलकके चौथे आश्वासमें (पृ० ११३ में) उन्होंने लिखा है कि इन महाकवियोंके काव्योंमें नम्र क्षपणक या दिगम्बर साधुओंका उल्लेख क्यों आता है? उनकी इतनी अधिक प्रसिद्धि क्यों है?—उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेघ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास,* वोस, कालिदास×, बाण+, मयूर, नारायण, कुमार, माघ और राजशेखर।

इससे मालूम होता है कि वे पूर्वाक्त कवियोंके काव्योंसे अवश्य परिचित होंगे। प्रथम आश्वासके ९० वें पृष्ठमें उन्होंने इन्द्र, चन्द्र, जैनेन्द्र, आपिशल आर पाणिनिके व्याकरणोंका जिक्र किया है। पूज्यपाद

+ नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलकके कुछ समानार्थक वचनोंका मिलान कीजिए:—

१—बुभुक्षाकालो भोजनकालः—नी० वा०, पृ० २५३।

चारायणो निशि तिमिः पुनरस्तकाले, मध्ये दिनस्य धिषणश्चरकः प्रभाते ।

भुक्तिं जगाद् नृपते मम चैष सर्गस्तस्याः स एव समयः क्षुधितो यदैव ॥३२८॥—यशस्तिलक, आ० ३।

(पूर्वाक्त पद्यमें चारायण, तिमि, धिषण और चरक इन चार आचार्योंके मतोंका उल्लेख किया गया है।)

२—कोकवद्दिवाकामः निशि भुञ्जीत । चकोरवन्नक्तकामः दिवापक्वम् ।—नी० वा० पृ० २५७।

अन्ये त्विदमाहुः—

यः कोकवद्दिवाकामः स नक्तं भोक्तुमर्हति ।

स भोक्ता वासरे यश्च रात्रौ रन्ता चकोरवत् ॥ ३३० ॥ —यशस्तिलक, आ० २

* भास महाकविका 'पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीयं' आदि पद्य भी पाँचवें आश्वासमें (पृ० २५०) उद्धृत है। × रघुवंशका भी एक जगह (आश्वास ४, पृ० १९४) उल्लेख है। + बाण महाकविका एक जगह औ भी (आ० ४, पृ० १०१) उल्लेख है और लिखा है कि उन्होंने शिकारकी निन्दा की है।

(जैनेन्द्रक कर्त्ता) और पाणिनिका उल्लेख और भी एक दो जगह हुआ है । मुद्र, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म, भारद्वाज आदि नीतिशास्त्रप्रणेताओंका भी वे कई जगह स्मरण करते हैं । कौटिलीय अर्थशास्त्रसे तो वे अच्छी तरह परिचित हैं ही । हमारे एक पण्डित मित्रके कथनानुसार नीतिवाक्यामृतमें सौ सवा सौ के लगभग ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ वर्तमान कोशमें नहीं मिलता । अर्थशास्त्रका अध्येता ही उन्हें समझ सकता है । अश्वविद्या, गजविद्या, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र, वैद्यक आदि विद्याओंके आचार्योंका भी उन्होंने कई प्रसंगों में उल्लेख किया है । प्रजापतिप्रोक्त चित्रकर्म, वराहमिहिरकृत प्रतिष्ठाकाण्ड, आदित्यमैत्र, निमित्ताध्याय, महाभारत, रत्नपरीक्षा, पतंजलिका योगशास्त्र और वररुचि, ध्यास, हरप्रबोध, कुमारीलकी उक्तियोंके उद्धरण दिये हैं । ऐतरेयब्रह्मसंहिता, तार्किक वैशेषिक, पाण्डुपत, कुलाचार्य, सांख्य, दशबलशासन, जैमिनीय, बार्हस्पत्य, वेदान्तवादि, काणाद, तात्पर्यगण, कापिल, ब्रह्माद्वैतवादि, अवधूत आदि दर्शनोके सिद्धान्तोंपर विचार किया है । इनके सिवाय मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिंगल, पुलह, पुलोम, पुलस्त, पराशर, मरीचि, विरोचन, धूमध्वज, नीलपट, ग्रहिल, आदि अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध आचार्योंका नामोल्लेख किया है । बहुतसे ऐतिहासिक दृष्टान्तोंका भी उल्लेख किया गया है । जैसे यवनदेश (यूनान ?) में मणिकुण्डला रानीने अपने पुत्रके राज्यके लिए विपदापित शरावके कुरलेसे अजराजाको, मूरसेन (मथुरा) में वसन्तमतिने विषमय आलतेसे रंगे हुए अधरोंसे सुरतविलास नामक राजाको, दशाणी (भिलसा) में वृकोदरीने विषलिप्त करधनीसे मदनार्णव राजाको, मगध देशमें मदिराक्षीने तीखे दण्डसे मन्मथविने दको, पाण्ड्य देशमें चण्डरसा रानीने कनरीमें छुरी हुई छुरीसे मुण्डीर नामक राजाको मार डाला * । इत्यादि । पौराणिक आख्यान भी बहुतसे आये हैं । जैसे प्रजापति ब्रह्माका चित्त अपनी लड़की पर चलायमान हो गया, वररुचि या कात्यायनने एक दासीपर रीझकर उसके कटनेसे मयका घड़ा उठाया, आदि x । इन सब बातोंसे पाठक जान सकेंगे कि आचार्य सोमदेवका ज्ञान कितना विस्तृत और व्यापक था ।

उद्धार विचारशीलता ।

यशस्तिलकके प्रारंभके २० वें श्लोकमें सोमदेवसूरि कहते हैं:—

लोको युक्तिः कलाश्छन्दोऽलंकाराः समयागमाः ।

सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थमार्ग इव स्मृताः ॥

अर्थात् सज्जनोंका कथन है कि व्याकरण, प्रमाणशास्त्र (न्याय), कलायें, छन्दःशास्त्र, अलंकारशास्त्र और (आहृत, जैमिनि, कपिल, चार्वाक, कणाद, बौद्धादिके) दर्शनशास्त्र तीर्थमार्गके समान सर्वसाधारण हैं । अर्थात् जिस तरह गंगादिके मार्ग पर ब्राह्मण भी चल सकते हैं और चाण्डाल भी, उसी तरह इनपर भी सबका अधिकार है । +

१—“ पूज्यपाद इव शब्दैतिष्ठेषु...पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु ” यश० आ० २, पृ० २३६ । —२, ३, ४, ५, ६—“ रोमपाद इव गजविद्यासु रैवत इव हयनयेषु शुक्रनाश इव रत्नपरीक्षासु, दत्तक इव कन्तुसिद्धान्तेषु ”—आ० ४, पृ० २३६-२३७ । ‘दत्तक’ कामशास्त्रके प्राचीन आचार्य हैं । वात्स्यायनने इनका उल्लेख किया है । ‘चारायण’ भी कामशास्त्रके आचार्य हैं । इनका मत यशस्तिलकके तीसरे आशवासके ५०९ पृष्ठमें चरकके साथ प्रकट किया गया है ।

१, २, ३, ४, ५—उक्त पाँचों ग्रन्थोंके उद्धरण यश० के चौथे आशवासके पृ० ११२-१३ और ११९ में उद्धृत हैं । महाभारतका नाम नहीं है, परन्तु—पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्’ आदि श्लोक महाभारतसे ही उद्धृत किया गया है ।

६—तदुक्तं रत्नपरीक्षायाम्—‘न केवलं’ आदि; आशवास ५, पृ० २५६ ।

७—यशस्तिलक आ० ६, पृ० २७६-७७ । ८—९—आ० ४, पृ० ९९ । १०, ११—आ० ५, पृ० २५१-५४ ।

१२—इन सब दर्शनोका विचार पाँचवें आशवासके पृ० २६९ से २७७ तक किया गया है ।

१३—देखो आशवास ५, पृ० २५२-५५ और २९९ ।

* यशस्तिलक आ० ४, पृ० १५३ । इन्हीं आख्यानोका उल्लेख नीतिवाक्यामृत (पृ० २३२) में भी किया गया है । आशवास ३- पृ० ४३१ और ५५० में भी ऐसे ही कई ऐतिहासिक दृष्टान्त दिये गये हैं ।

x यश० आ० ४, पृ० १३८—३९ ।

+ “ लोको व्याकरणशास्त्रम्, युक्तिः प्रमाणशास्त्रम्,समयागमाः जिनजैमिनिकपिलकणचरचार्वकशाक्यानां सिद्धान्ताः । सर्वसाधारणाः सद्भिः कथिताः प्रतिपादिताः । क इव तीर्थ मार्ग इव । यथा तीर्थमार्गे ब्राह्मणाश्चलन्ति, चाण्डाला अपि गच्छन्ति, नास्ति तत्र दोषः । ”—श्रुतसागरी टीका ।

इस उक्तिसे पाठक जान सकते हैं कि उनके विचार ज्ञानके सम्बन्धमें कितने उदार थे। उसे वे सर्वसाधारणकी चीज समझते थे और यही कारण है जो उन्होंने धर्माचार्य होकर भी अपने धर्मसे इतर धर्मके माननेवालोंके साहित्यका भी अच्छी तरहसे अध्ययन किया था, यही कारण है जो वे पूज्यपाद और भट्ट अकलंकदेवके साथ पाणिनि आदिका भी आदरके साथ उल्लेख करते हैं और यही कारण है जो उन्होंने अपना यह राजनीतिशास्त्र बीसों जेनेतर आचार्योंके विचारोंका सार खींचकर बनाया है। यह सच है कि उनका जैन सिद्धान्तों पर अचल विश्वास है और इसीलिए यशस्तिलकमें उन्होंने अन्य सिद्धान्तोंका खण्डन करके जैनसिद्धान्तकी उपादेयता प्रतिपादन की है; परन्तु इसके साथ ही वे इस सिद्धान्तके पक्के अनुयायी हैं कि 'युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।' उनकी यह नीति नहीं थी कि ज्ञानका मार्ग भी संकीर्ण कर दिया जाय और संसारके विशाल ज्ञान-भाण्डारका उपयोग करना छोड़ दिया जाय।

समय और स्थान ।

नीतिवाक्यामृतके अन्तकी प्रशस्तिमें इस बातका कोई जिक्र नहीं है कि वह कब और किस स्थानमें रचा गया था; परन्तु यशस्तिलक चम्पूके अन्तमें इन दोनों बातोंका उल्लेख है:—

“शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थ-संवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेल-पाटीप्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजाविनः समधिगतपञ्चमहाशब्दमहा-सामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वधगेरा-जस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधारायां गङ्गाधारायां विनिर्मापितमितं काव्यमिति ।”

अर्थात् चैत्र सुदी १३, शकसंवत् ८८१ (विक्रम संवत् १०३६) को जिस समय श्रीकृष्णराजदेव पाण्ड्य सिंहल, चोल, चेर आदि राजाओं पर विजय प्राप्त करके मेलपाटी नामक राजधानीमें राज्य करते थे और उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त बह्मिग—जो चालुक्यवंशीय अरिकेसरीके प्रथम पुत्र थे—गंगाधाराका शासन करते थे, यह काव्य समाप्त हुआ।

दक्षिणके इतिहाससे पता चलता है कि ये कृष्णराजदेव राष्ट्रकूट या राठौर वंशके महाराजा थे और इनका दूसरा नाम अकालवर्ष था। यह वही वंश है जिसमें भगवज्जनसेनके परमभक्त महाराज अमोघवर्ष (प्रथम) उत्पन्न हुए थे। अमोघवर्षके पुत्र अकालवर्ष (द्वितीय कृष्ण) और अकालवर्षके जगत्तुंग हुए*। इन जगत्तुंगके दो पुत्रों—इन्द्र या नित्यवर्ष और बह्मिग या अमोघवर्ष (तृतीय) मेंसे—अमोघवर्ष तृतीयके पुत्र कृष्णराजदेव या तृतीय कृष्ण थे। इनके समयके शक संवत् ८६७, ८७३, ८७६, और ८८१ के चार शिलालेख मिले हैं, इससे इनका राज्यकाल कमसे कम ८६७ से ८८१ तक सुनिश्चित है। ये दक्षिणके सार्वभौमराजा थे और बड़े प्रतापी थे। इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य थे। कृष्णराजने—जैसा कि सोमदेवसूरिने लिखा है—सिंहल, चोल, पाण्ड्य और चेर राजाओंको युद्धमें पराजित किया था। इनके समयमें कनड़ी भाषाका सुप्रसिद्ध कवि पोन्न हुआ है जो जैन था और जिसने

१ पाण्ड्य=वर्तमानमें मद्रासका 'तिनेवली'। सिंहल=सिलोन या लंका। चोल=मद्रासका कारोमण्डल। चेर=केरल, वर्तमान त्रावणकोर। २ सुद्रित—ग्रन्थमें 'मेल्याटी' पाठ है। ३ सुद्रित पुस्तकमें 'श्रीमद्गणराजप्रवर्धमान—' पाठ है।

* जगत्तुंग महीपर नहीं बैठे। अकालवर्षके बाद जगत्तुंगके पुत्र तृतीय इन्द्रको गद्दी मिली। इन्द्रके दो पुत्र थे—अमोघवर्ष (द्वितीय) और गोविन्द (चतुर्थ)। इनमेंसे द्वितीय अमोघवर्ष पहले सिंहासनारूढ हुए; परन्तु कुछ ही समयके बाद गोविन्द चतुर्थने उन्हें गद्दीसे उतार दिया और आप राजा बन बैठे। गोविन्दके बाद उनके काका अर्थात् जगत्तुंगके दूसरे पुत्र अमोघवर्ष (तृतीय) गद्दीपर बैठे। अमोघवर्षके बाद ही कृष्णराजदेव सिंहासनासीन हुए। इन सबके विषयमें विस्तारसे जाननेके लिए डा० भाण्डरकरकृत 'हिस्ट्री आफ दी डेकन' या उसका मराठी अनुवाद पढ़िए।

शान्तिपुराण नामक श्रेष्ठ ग्रन्थकी रचना की है। महाराज कृष्णराज देवके दरबारसे इसे 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' की उपाधि मिली थी।

निजामके राज्यमें मलखेड़ नामका एक ग्राम है जिसका प्राचीन नाम 'मान्यखेट' है। यह मान्यखेट ही अमोघ-वर्ष आदि राष्ट्रकूट राजाओंकी राजधानी थी × और उस समय बहुत ही समृद्ध थी। संभव है कि सोमदेवने इसकी मेलपाटी या मिलाटी लिखा हो। 'हिस्टरी आफ कनारी लिटरेचर' के लेखकने लिखा है कि पोन्न कविको उभयभाषाकविचक्रवर्तीकी उपाधि देनेवाले राष्ट्रकूट राजा कृष्णराजने मान्यखेटमें सन् ९३९ से ९६८ तक राज्य किया है। इससे भी मालूम होता है कि मान्यखेटका ही नाम मेलपाटी होगा; परंतु यदि यह मेलपाटी कोई दूसरा स्थान है तो समझना होगा कि कृष्णराज देवके समयमें मान्यखेटसे राजधानी उठकर उक्त दूसरे स्थानमें चली गई थी। इस बातका पता नहीं लगता कि मान्यखेटमें राष्ट्रकूटोंकी राजधानी कब तक रही।

राष्ट्रकूटोंके समयमें दक्षिणका चालुक्यवंश (सोलंकी) हतप्रभ हो गया था। क्योंकि इस वंशका सार्वभौमत्व राष्ट्रकूटोंने ही छीन लिया था। अतएव जब तक राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक राजा बनकर ही रहे। जान पड़ता है कि अरिकेसरीका पुत्र बहिंग ऐसा ही एक क्षामन्तराजा था जिसकी गंगाधारा नामक राजधानीमें यशस्तिलककी रचना समाप्त हुई है।

चालुक्योंकी एक शाखा 'जोल' नामक प्रान्तपर राज्य करती थी जिसका एक भाग इस समयके धारवाड़ जिलेमें आता है और श्रीयुक्त आर. नरसिंहाचार्यके मतसे चालुक्य अरिकेसरीकी राजधानी 'पुलगेरी'में थी जो कि इस समय 'लक्ष्मेश्वर'के नामसे प्रसिद्ध है।

इस अरिकेसरीके ही समयमें कन्नड़ी भाषाका सर्वश्रेष्ठ कवि पम्प हो गया है जिसकी रचना पर सुग्ध होकर अरिकेसरीने धर्मपुर नामका एक ग्राम पारितोषिकमें दिया था। पम्प जैन था। उसके बनाये हुए दो ग्रन्थ ही इस समय उपलब्ध हैं—एक आदिपुराण चम्पू और दूसरा भारत या विक्रमार्जुनविजय। पिछले ग्रन्थमें उसने अरिकेसरीकी वंशावली इस प्रकार दी है—युद्धमल्ल—अरिकेसरी—नारसिंह—युद्धमल्ल—बहिंग—युद्धमल्ल—नारसिंह और अरिकेसरी। उक्त ग्रन्थ शक संवत् ८६३ (वि० ९९८ में) समाप्त हुआ है, अर्थात् वह यशस्तिलकसे कोई १८ वर्ष पहले बन चुका था। इसकी रचनाके समय अरिकेसरी राज्य करता था, तब उसके १८ वर्ष-बाद—यशस्तिलककी रचनाके समय—उसका पुत्र राज्य करता होगा, यह संवेधा ठीक जँचता है।

काव्यमाला द्वारा प्रकाशित यशस्तिलकमें अरिकेसरीके पुत्रका नाम 'श्रीमद्वहिंगराज' सुद्धित हुआ है; परन्तु हमारी समझमें वह अशुद्ध है। उसकी जगह 'श्रीमद्वहिंगराज' पाठ होना चाहिए। दानवीर सेठ माणिकचंदजीके सरस्वतीभंडारकी वि० सं० १४६४ की लिखी हुई प्रतिमें 'श्रीमद्वहिंगराजस्य' पाठ है और इससे हमें अपने कल्पना किये हुए पाठकी शुद्धतामें और भी अधिक विश्वास होता है। ऊपर जो हमने पम्पकवि-लिखित अरिकेसरीकी वंशावली दी है, उस पर पाठकोंको जरा बारीकीसे विचार करना चाहिए। उसमें युद्धमल्ल नामके तीन, अरिकेसरी नामके दो और नारसिंह नामके दो राजा हैं। अनेक राजवंशोंमें प्रायः यही परिपाटी देखी जाती है कि पितामह और पौत्र या प्रपितामह और प्रपौत्रके नाम एकसे रखे जाते थे, जैसा कि उक्त वंशावलीसे प्रकट होता है *। अतएव हमारा अनुमान है कि इस वंशावलीके अन्तिम राजा अरिकेसरी (पम्पके आश्रयदाता) के पुत्रका नाम बहिंग × ही होगा जो कि लेखकोंके प्रमादसे 'वहिंग' या 'वांग' बन गया है।

× महाराजा अमोघवर्ष (प्रथम) के पहले शायद राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मयूरखण्डी थी जो इस समय नासिक जिलेमें मोरखण्ड किलेके नामसे प्रसिद्ध है।

* दक्षिणके राष्ट्रकूटोंकी वंशावलीमें भी देखिए कि अमोघवर्ष नामके चार, कृष्ण या अकालवर्ष नामके तीन, गोविन्द नामके चार, इन्द्र नामके तीन और कर्क नामके तीन राजा लगभग २५० वर्षके बीचमें ही हुए हैं।

× श्रेष्ठ पं० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझाने अपने 'सोलंकीयोंके इतिहास' (प्रथम भाग) में लिखा है कि सोमदेवपुरीने अरिकेसरीके प्रथम पुत्रका नाम नहीं दिया है; परन्तु ऐसा उन्होंने यशस्तिलककी प्रशस्तिके अशुद्ध पाठके कारण समझ लिया है; वास्तवमें नाम दिया है और वह 'बहिंग' ही है।

‘ गंगाधारा ’ स्थान के विषयमें हम कुछ पता न लगा सके जो कि बहिगकी राजधानी थी और जहाँ यश-स्तिलककी रचना समाप्त हुई है । संभवतः यह स्थान धारवाड़के ही आसपास कहीं होगा ।

श्रीसोमदेवसूरिने नीतिवाक्यामृतकी रचना कब और कहाँ पर की थी, इस बातका विचार करते हुए हमारी दृष्टि उसकी संस्कृत टीकाके निम्नलिखित वाक्यों पर जाती है ।

“ अत्र तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन रघुवंशावस्थाधिपराक्रमपालितकस्य (कृत्स्न) कर्णकुब्जेन महाराजश्रीमहेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्यकृतार्थशास्त्रपुरवबोधग्रन्थगौरवखिन्नमानसेन सुबोधललितलघुनीतिवाक्यामृतरचनासु प्रवर्तितः सकलपारिषदत्वाज्ञातिग्रन्थस्थ नानादर्शनप्रतिबद्धश्रोतृणां तत्तदभीष्टश्रीकण्ठाच्युताविरच्यर्हतां वाचनिकमनस्कृतिसूचनं तथा स्वगुरोः सोमदेवस्य च प्रणामपूर्वकं शास्त्रस्य तत्कर्तृत्वं ख्यापयितुं सकलसत्त्वकृताभयप्रदानं मुनिचन्द्राभिधानः क्षपणकत्रतधर्त्ता नीतिवाक्यामृतकर्त्ता निर्विघ्नसिद्धिकरं...श्लोकमेकं जगाद—” पृष्ठ २.

इसका अभिप्राय यह है कि कान्यकुब्जनरेश्वर महाराजा महेन्द्रदेवेने पूर्वाचार्यकृत अर्थशास्त्र (कौटिलीय अर्थ-शास्त्र ?) की बुनौधता और गुरुतासे खिन्न होकर ग्रन्थकर्त्ताको इस सुबोध, सुन्दर और लघु नीतिवाक्यामृतकी रचना करनेमें प्रवृत्त किया ।

कन्नौजके राजा महेन्द्रपालदेवका समय वि० संवत् ९६० से ९६४ तक निश्चित हुआ है । कर्पूरभंजरी और काव्यमीमांसा आदिके कर्त्ता सुप्रसिद्ध कवि राजशेखर इन्हीं महेन्द्रपालदेवके उपाध्याय थे * । परन्तु हम देखते हैं कि यशस्तिलक वि० संवत् १०१६ में समाप्त हुआ है और नीतिवाक्यामृत उससे भी पीछे बना है । क्योंकि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें ग्रन्थकर्त्ताने अपनेको यशोधरमहाराजचरित या यशस्तिलक महाकाव्यका कर्त्ता प्रकट किया है और इससे प्रकट होता है कि उक्त प्रशस्ति लिखते समय वे यशस्तिलकको समाप्त कर चुके थे । ऐसी अवस्थामें महेन्द्रपालदेवसे कमसे कम ५०—५१ वर्ष बाद नीतिवाक्यामृतका रचनाकाल ठहरता है । तब समझमें नहीं आता कि टीकाकारने सोमदेवको महेन्द्रपालदेवका सामायिक कैसे ठहराया है । आश्चर्य नहीं जो उन्होंने किसी सुनी सुनाई किंवदन्तीके आधारसे पूर्वोक्त बात लिख दी हो ।

नीतिवाक्यामृतके टीकाकारका समय अज्ञात है; परन्तु यह निश्चित है कि वे मूलग्रन्थकर्त्तासे बहुत पीछे हुए हैं, क्योंकि और तो क्या वे उनके नामसे भी अच्छी तरह परिचित नहीं हैं । यदि ऐसा न होता तो मंगला-चरणके श्लोककी टीकामें जो ऊपर उद्धृत हो चुकी है, वे ग्रन्थकर्त्ताका नाम ‘ मुनिचन्द्र ’ और उनके गुरुका नाम ‘ सोमदेव ’ न लिखते । इससे भी मालूम होता है कि उन्होंने ग्रन्थकर्त्ता और महेन्द्रदेवका समकालिकत्व किंवदन्तीके आधारसेही लिखा है ।

सोमदेवसूरिने यशस्तिलकमें एक जगह जो प्राचीन महाकवियोंकी नामावली दी है, उसमें सबसे अन्तिम नाम राजशेखरका है × । इससे मालूम होता है कि राजशेखरका नाम सोमदेवके समयमें प्रसिद्ध हो चुका था, अत एव राजशेखर उनसे अधिक नहीं तो ५० वर्ष पहले अवश्य हुए होंगे और महेन्द्रदेवके वे उपाध्याय थे । इससे भी नीतिवाक्यामृतका उनके समयमें या उनके कहनेसे बनना कम संभव जान पड़ता है ।

और यदि कान्यकुब्जनरेशके कहनेसे सचमुच ही नीतिवाक्यामृत बनाया गया होता, तो इस बातका उल्लेख ग्रन्थकर्त्ता अवश्य करते; बल्कि महाराजा महेन्द्रपालदेव इसका उल्लेख करनेके लिए स्वयं उनसे आग्रह करते ।

पहले बतलाया जा चुका है कि सोमदेवसूरि देवसंघके आचार्य थे और जहाँ तक हम जानते हैं यह संघ दक्षिणमें ही रहा है । अब भी उत्तरमें जो भट्टारकोंकी गढ़ियाँ हैं, उनमेंसे कोई भी देवसंघकी नहीं है । यशस्तिलक भी दक्षिणमें ही बना है और उसकी रचनासे भी अनुमान होता है कि उसके कर्त्ता दक्षिणात्य हैं । ऐसी अवस्थामें उनका

* देखो नागरप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण), भाग २, अंक १ में स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका ‘ अवन्तिमुन्दरी ’ शीर्षक नोट ।

× तथा—उर्व-भारवि-भवभूति-भर्तृहरि-भर्तृमेष-गुणाढ्य-व्यास-भास-वोस-कालिदास-बाण-मयूर-नारायण-कुमार-माघ-राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु तब तत्रावसरे भरतप्रणीते काव्याध्याये सर्वजनप्रसिद्धेषु तेषु तेषुपाख्यानेषु च कथं नक्षिपया महुती प्रसिद्धिः । ”

—यशस्तिलक आ० ४, पृ० ११३ ।

निर्ग्रन्थ होकर भी कान्यकुब्जके राजाकी सभामें रहना और उसके कहनेसे नीतिवाक्यामृतकी रचना करना असंभव नहीं तो विलक्षण अवश्य जान पड़ता है।

मूलग्रन्थ और उसके कर्ताके विषयमें जितनी बातें मालूम हो सकीं उन्हें लिखकर अब हम टीका और टीकाकारका परिचय देनेकी ओर प्रवृत्त होते हैं:—

टीकाकार।

जिस एक प्रतिके आधारसे यह टीका मुद्रित हुई है, उसमें कहीं भी टीकाकारका नाम नहीं दिया है। संभव है कि टीकाकारकी भी कोई प्रशस्ति रही हो और वह लेखकोंके प्रमादसे छूट गई हो। परन्तु टीकाकारने ग्रन्थके आरंभमें जो मंगलाचरणका श्लोक लिखा है, उससे अनुमान होता है कि उनका नाम बहुत करके 'हरिबल' होगा।

हरिं हरिबलं नत्वा हरिवर्णं हरिप्रभम् ।

हरीज्यं च ब्रुवे टीका नीतिवाक्यामृतोपरि ॥

यह श्लोक मूल नीतिवाक्यामृतके निम्नलिखित मंगलाचरणका बिल्कुल अनुकरण है:—

सोमं सोमसमाकारं सोमामं सोमसंभवम् ।

सोमदेयं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥

जब टीकाकारका मंगलाचरण मूलका अनुकरण है और मूलकारने अपने मंगलाचरणमें अपना नाम भी पर्याया-न्तरसे व्यक्त किया है, तब बहुत संभव है कि टीकाकारने भी अपने मंगलाचरणमें अपना नाम व्यक्त करनेका प्रयत्न किया हो और ऐसा नाम उसमें 'हरिबल' ही हो सकता है जिसके आगे मूलके 'सोमदेव'के समान 'नत्वा' पद पड़ा हुआ है। यह भी संभव है कि हरिबल टीकाकारके गुरुका नाम हो और यह इसलिए कि सोमदेवको उन्होंने मूलग्रन्थ-कर्ताके गुरुका नाम समझा है। यद्यपि यह केवल अनुमान ही है, परन्तु यदि उनका या उनके गुरुका नाम 'हरिबल' हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

टीकाकारने मंगलाचरणमें 'हरि' या 'वासुदेव'को नमस्कार किया है। इससे मालूम होता है कि वे वैष्णव धर्मके उपासक होंगे।

वे कहाँके रहनेवाले थे और किस समयमें उन्होंने यह टीका लिखी है, इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। परन्तु यह बात निःसंशय होकर कही जा सकती है कि वे बहुश्रुत विद्वान् थे और एक राजनीतिके ग्रन्थपर टीका लिखनेकी उनमें यथेष्ट योग्यता थी। इस विषयके उपलब्ध साहित्यका उनके पास काफी संग्रह था और टीकामें उसका पूरा पूरा उपयोग किया गया है। नीतिवाक्यामृतके अधिकांश वाक्योंकी टीकामें उस वाक्यसे मिलते जुलते अभिप्रायवाले उद्धरण देकर उन्होंने मूल अभिप्रायको स्पष्ट करनेका भरसक प्रयत्न किया है। विद्वान् पाठक समझ सकते हैं कि यह काम कितना कठिन है और इनके लिए उन्हें कितने ग्रन्थोंका अध्ययन करना पड़ा होगा; स्मरणशक्ति भी उनकी कितनी प्रखर होगी।

यह टीका पचासो ग्रन्थकारोंके उद्धरणोंसे भरी हुई है। इसमें किन किन कवियों, आचार्यों या ऋषियोंके श्लोक उद्धृत किये गये हैं, यह जाननेके लिए ग्रन्थके अन्तमें उनके नामोंकी और उनके पद्योंकी एक सूची वर्णानुक्रमसे लगा दी गई है, इसलिए यहाँ पर उन नामोंका पृथक् उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक देखेंगे कि उसमें अनेक नाम बिल्कुल अपरिचित हैं और अनेक ऐसे हैं जिनके नाम तो प्रसिद्ध हैं; परन्तु रचनायें इस समय अनुपलब्ध हैं। इस दृष्टिसे यह टीका और भी बड़े महत्त्वकी है कि इससे राजनीति या सामान्यनीतिसम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थकारोंकी रचनाके सम्बन्धमें अनेक नई नई बातें मालूम होंगी।

संशोधकके आक्षेप।

इस ग्रन्थकी प्रेसकापी और मुद्रक संशोधनका काम श्रियुत पं० पन्नालालजी सोनीने किया है। आपने केवल अपने उत्तरदायित्व पर, मेरी अनुपस्थितिमें, कई टिप्पणियाँ ऐसी लगा दी हैं जिनसे टीकाकारके और उसकी टीकाके विषयमें एक बड़ा भारी भ्रम फैल सकता है अतएव यहाँ पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उन टिप्पणियों पर भी एक नजर डाल ली जाय। सोनीजीकी टिप्पणियोंके आक्षेप दो प्रकारके हैं:—

१—टीकाकारने जो मनु, शुक्र और याज्ञवल्क्यके श्लोक उद्धृत किये हैं, वे मनुस्मृति, शुक्रनीति और याज्ञवल्क्यस्मृतिमें, नहीं हैं। यथा पृष्ठ १६५ की टिप्पणी—“श्लोकोऽयं मनुस्मृतौ तु नास्ति। टीकाकर्त्ता स्वदौष्ट्येन ग्रन्थकर्तृपराभवाभिप्रायेण बहवः श्लोकाः स्वयं विरचय्य तत्र तत्र स्थलेषु विनिवेशिताः।” अर्थात् यह श्लोक मनुस्मृतिमें तो नहीं है, टीकाकारने अपनी दुष्टतावश मूलकर्त्ताको नीचा दिखानेके अभिप्रायसे स्वयं ही बहुतसे श्लोक बनाकर जगह जगह घुसेड़ दिये हैं।

२—इस टीकाकारने—जो कि निश्चयपूर्वक अजैन है—बहुतसे सूत्र अपने मतके अनुसार स्वयं बनाकर जोड़ दिये हैं। यथा पृष्ठ ४९ की टिप्पणी—“अस्य ग्रन्थस्य कर्त्ता कश्चिदजैनविद्वानस्तीति निश्चितं। अतस्तेन स्वमतानुसारेण बहूनि सूत्राणि विरचय्य संयोजितानि। तानि च तत्र तत्र निवेदयिष्यामः।”

पहले आक्षेपके सम्बन्धमें हमारा निवेदन है कि सोनीजी वैदिक धर्मके साहित्य और उसके इतिहाससे सर्वथा अनभिज्ञ हैं; फिर भी उनके साहसकी प्रशंसा करनी चाहिए कि उन्होंने मनु या शुक्रके नामके किसी ग्रन्थके किसी एक संस्करणको देखकर ही अपनी अद्भुत राय दे डाली है। खेद है कि उन्हें एक प्राचीन विद्वानके विषयमें—केवल इतने कारणसे कि वह जैन नहीं है इतनी बड़ी एकतरफा डिक्री जारी कर देनेमें जरा भी शिश्न नहीं हुई !

सोनीजीने सारी टीकामें मनुके नामके पाँच श्लोकोंपर, याज्ञवल्क्यके एक श्लोकपर, और शुक्रके दो श्लोकोंपर अपने नोट दिये हैं कि ये श्लोक उक्त आचार्योंके ग्रन्थोंमें नहीं हैं। सचमुच ही उपलब्ध मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति और शुक्रनीतिमें उद्धृत श्लोकोंका पता नहीं चलता। परन्तु जैसा कि सोनीजी समझते हैं, इसका कारण टीकाकारकी दुष्टता या मूलकर्त्ताको नीचा दिखानेकी प्रवृत्ति नहीं है।

सोनीजीको जानना चाहिए कि हिन्दुओंके धर्मशास्त्रोंमें समय समय पर बहुत कुछ परिवर्तन होते रहे हैं। अपने निर्माणसमयमें वे जिस रूपमें थे, इस समय उस रूपमें नहीं मिलते हैं। उनके संक्षिप्त संस्करण भी हुए हैं और प्राचीन ग्रन्थोंके नष्ट हो जानेसे उनके नामसे दूसरोंने भी उसी नामके ग्रन्थ बना दिये हैं। इसके सिवाय एक स्थानकी प्रतिके पाठोंसे दूसरे स्थानोंकी प्रतियोंके पाठ नहीं मिलते। इस विषयमें प्राचीन साहित्यके खोजियोंने बहुत कुछ छानबीन की है और इस विषय पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। कौटिलीय अर्थशास्त्रकी भूमिकामें उसके सुप्रसिद्ध सम्पादक पं० आर. शामशास्त्री लिखते हैं:—

“अतश्च चाणक्यकालिकं धर्मशास्त्रमधुनातनायाज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रादन्यद्वासीदिति प्रतिभाति। एवमेव ये पुनर्मानव-ब्राह्मण्यौशनसा भिन्नाभिप्रायास्तत्र तत्र कौटिल्येन परामृष्टाः न तेऽधुनोपलभ्यमानेषु तत्तद्वर्गशास्त्रेषु दृश्यन्त इति कौटिल्यपरामृष्टानि तानि शास्त्राण्यन्यान्वेवेति बाढं सुवचम्।”

अर्थात् इससे मालूम होता है कि चाणक्यके समयका याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र वर्तमान याज्ञवल्क्य शास्त्र (स्मृति) से कोई जुड़ा ही था। इसी तरह कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें जगह जगह ब्राह्मण्य, औशनस आदिसे जो अपने भिन्न अभिप्राय प्रकट किये हैं वे अभिप्राय इस समय मिलनेवाले उन धर्मशास्त्रोंमें नहीं दिखलाई देते। अतएव यह अच्छी तरह सिद्ध होता है कि कौटिल्यने जिन शास्त्रोंका उल्लेख किया है, वे इनके सिवाय दूसरे ही थे।

स्वर्गीय बाबू रमेशचन्द्र दत्तने अपने ‘प्राचीन सभ्यताके इतिहास’ में लिखा है कि प्राचीन धर्मसूत्रोंको सुधार कर उत्तरकालमें स्मृतियाँ बनाई गई हैं—जैसे कि मनु और याज्ञवल्क्यकी स्मृतियाँ। जो धर्मसूत्र खोये गये हैं उनमें एक मनुका सूत्र भी है जिससे कि पीछेके समयमें मनुस्मृति बनाई गई है। ५

याज्ञवल्क्य स्मृतिके सुप्रसिद्ध टीकाकार विज्ञानेश्वर लिखते हैं:—“याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चन प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यप्रणीतं धर्मशास्त्रं संक्षिप्य कथयामास, यथा मनुप्रोक्तं भृगुः।” अर्थात् याज्ञवल्क्यके किसी शिष्यने याज्ञवल्क्यप्रणीत धर्मशास्त्रको संक्षिप्त करके कहा—जिस तरह कि भृगुने मनुप्रणीत धर्मशास्त्रको संक्षिप्त करके मनुस्मृति लिखी है। इससे मालूम होता है कि उक्त दोनों स्मृतियाँ, मनु और याज्ञवल्क्यके प्राचीन शास्त्रोंके उनके

५ रमेशबाबूने अपने इतिहासके चौथे भागमें इस समय मिलनेवाली पृथक् पृथक् वीसों स्मृतियों पर अपने विचार प्रकट किये हैं और उसमें बतलाया है कि अधिकांश स्मृतियाँ बहुत पीछेकी बनी हुई हैं और बहुतोंमें—जो प्राचीन भी हैं—बहुत पीछे तक नई नई बातें शामिल की जाती रही हैं।

शिष्यों या परम्पराशिष्यों द्वारा निर्मित किये हुए सार हैं और इस बातको तो सभी जानते हैं कि उपलब्ध मनुस्मृति भृगुप्रणीत हैं—स्वयं मनुप्रणीत नहीं।

बम्बईके गुजराती प्रेसके मालिकोंने कुल्लूकभट्टकी टीकाके साहित मनुस्मृतिका एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया है। उसके परिशिष्टमें ३५५ श्लोक ऐसे दिये हैं जो वर्तमान मनुस्मृतिमें तो नहीं मिलते हैं; परन्तु हेमाद्रि, —मिताक्षरा, पराशरमाधवीय, स्मृतिरत्नाकर, निर्णयसिन्धु आदि ग्रन्थोंमें मनु, वृद्धमनु और बृहन्मनुके नामसे 'उक्तच' रूपमें उद्धृत किये हैं। इसके सिवाय सैकड़ों श्लोक क्षेपकरूपमें भी दिये हैं, जिनकी कुल्लूक भट्टने भी टीका नहीं की है।

हमारे जैनग्रन्थोंमें भी मनुके नामसे अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं जो इस मनुस्मृतिमें नहीं हैं। उदाहरणार्थ स्वनामधन्य पं० टोडरमल्लजीने अपने मोक्षमार्गप्रकाशके पाँचवें अधिकारमें मनुस्मृतिके तीन श्लोक दिये हैं, जो वर्तमान मनुस्मृतिमें नहीं हैं ×। इसी तरह 'द्विजवदनचपेट' नामक दिगम्बर जैनग्रन्थमें भी मनुके नामसे ७ श्लोक उद्धृत हैं जिनमेंसे वर्तमान मनुस्मृतिमें केवल २ मिलते हैं, शेष ५ नहीं हैं।*

शुकनीति जो इस समय मिलती है उसके विषयमें तो विद्वानोंकी यह राय है कि वह बहुत पीछेकी बनी हुई है—पाँच छः सौ वर्षसे पहलेकी तो वह किसी तरह हो ही नहीं सकती। शुकका प्राचीन ग्रन्थ इससे कोई पृथक् ही था +। बौद्धिलीय अर्थशास्त्रमें लिखा है कि शुकके मतसे दण्डनीति एक ही राजविद्या है, इसीमें सब विद्यायें गर्भित हैं; परन्तु वर्तमान शुकनीतिका कर्त्ता चारों विद्याओंको राजविद्या मानता है—'विद्याश्चतस्र एवेताः' आदि (अ० १ श्लो० ५१)। अतएव इस शुकनीतिको शुककी मानना भ्रम है।

इन सब बातों पर विचार करनेसे हम टीकाकार पर यह दोष नहीं लगा सकते कि उसने स्वयं ही श्लोक गढ़कर मनु आदिके नाम पर मढ़ दिये हैं। हम यह नहीं कहते कि वर्तमान मनुस्मृति उक्त टीकाकारके बादकी है, इस लिए उस समय यह न उपलब्ध होगी। क्योंकि टीकाकारसे भी पहले मूलकर्त्ता श्रीसोमदेवसूरिने भी मनुके बीसों श्लोक उद्धृत किये हैं और वे वर्तमान मनुस्मृतिमें मिलते हैं; अतएव टीकाकारके समयमें भी यह मनुस्मृति अवश्य होगी; परन्तु इसकी जो प्रति उन्हें उपलब्ध होगी, उसमें टीकोद्धृत श्लोकोंका रहना असंभव नहीं माना जा सकता। यह भी संभव है कि किसी दूसरे ग्रन्थकर्त्ताने इन श्लोकोंको मनुके नामसे उद्धृत किया हो और उस ग्रन्थके आधारसे टीकाकारने भी उद्धृत कर लिया हो। जैसे कि अभी मोक्षमार्गप्रकाशके या द्विजवदनचपेटके आधारसे उनमें उद्धृत किये हुए मनुस्मृतिके श्लोकोंको, कोई नया लेखक अपने ग्रन्थमें भी लिख दे।

याज्ञवल्क्यस्मृतिके श्लोकके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है। अब रही शुकनीति, सो उसकी प्राचीनतामें तो बहुत ही संदेह है। वह तो इस टीकाकारसे भी पीछेकी रचना जान पड़ती है। इसके सिवाय शुकके नामसे तो टीकाकारने दो चार नहीं १७० के लगभग श्लोक उद्धृत किये हैं। तो क्या टीकाकारने वे सबके सब ही मूलकर्त्ताको नीचा दिखानेकी गरजसे गढ़ लिये होंगे? और मूलकर्त्ता तो इसमें अपनी कोई तौहीन ही नहीं समझते हैं। उन्होंने तो अपने यशस्तिलकमें न जाने कितने विद्वानोंके वाक्य और पद्य जगह जगह उद्धृत करके अपने विषयका प्रतिपादन किया है।

सोनीजीका दूसरा आक्षेप यह है कि टीकाकारने स्वयं ही बहुतसे सूत्र (वाक्य) गढ़कर मूलमें शामिल कर दिये हैं। विद्यावृद्धसमुद्देशके, नीचे लीखे २१ वें, २३ वें और २५ वें सूत्रोंको आप टीकाकर्त्ताका बतलाते हैं:—

१—“वैवाहिकः शालीनो जायावरोऽधोरो गृहस्थाः ॥” २१

२—बालाखिल्य औदुम्बरी वैश्वानराः सद्यःप्रक्षल्यकश्चेति वानप्रस्थाः” ॥ २३

× देखो मोक्षमार्गप्रकाशका बम्बईका संस्करण, पृष्ठ० २०१।

छ 'द्विजवदनचपेट' संस्कृत ग्रन्थ है, कोल्हापुरके श्रीयुत पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेने 'जैनबोधक' में और स्वतंत्र पुस्तकाकार भी, अबसे कोई १२-१४ वर्ष पहले, मराठी टीकासहित प्रकाशित किया था।

× देखो गुजराती प्रेसकी शुकनीतिकी भूमिका।

३—“कुटीरकबहोदक-हंस-परमहंसा यतयः” ॥ २५

इसका कारण आपने यह बतलाया है कि मुद्रित पुस्तकमें और हस्तलिखित मूलपुस्तकमें ये सूत्र नहीं हैं। परन्तु इस कारणमें कोई तथ्य नहीं दिखलाई देता। क्योंकि—

१—जब तक दश पाँच हस्तलिखित प्रतियाँ प्रमाणमें पेश न की जा सकें, तब तक यह नहीं माना जा सकता कि मुद्रित और मूलपुस्तकमें जो पाठ नहीं हैं वे मूलकर्त्ताके नहीं हैं—ऊपरसे जोड़ दिये गये हैं। इस तरहके हीन अधिक पाठ जुदी जुदी प्रतियोंमें अकसर मिलते हैं।

२—मूलकर्त्ताने पहले वर्णोंके भेद बतलाकर फिर आश्रमोंके भेद बतलाये हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति। फिर ब्रह्मचारियोंके उपकुर्वाण, नेष्ठिक, और कृतुप्रद ये तीन भेद बतलाकर उनके लक्षण दिये हैं। इसके आगे गृहस्थ, वानप्रस्थ और यतियोंके लक्षण क्रमसे दिये हैं; तब यह स्वाभाविक और क्रमप्राप्त है कि ब्रह्मचारियोंके समान गृहस्थों, वानप्रस्थों और यतियोंके भी भेद बतलाये जाय और वे हो उक्त तीन सूत्रोंमें बतलाये गये हैं। तब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकरणके अनुसार उक्त तानों सूत्र अवश्य रहने चाहिए और मूलकर्त्ताने ही उन्हें रचा होगा। जिन प्रतियोंमें उक्त सूत्र नहीं हैं; उनमें उन्हें भूलसे ही छूट हुए समझना चाहिए।

३—यदि इस कारणसे ये मूलकर्त्ताके नहीं हैं कि इनमें बतलाये हुए भेद जैनमतसम्मत नहीं हैं, तो हमारा प्रश्न है कि उपकुर्वाण, कृतुप्रद आदि ब्रह्मचारियोंके भेद भी किसी जैनग्रन्थमें नहीं लिखे हैं, तब उनके सम्बन्धके जितने सूत्र हैं, उन्हें भी मूलकर्त्ताके नहीं मानने चाहिए। यदि सूत्रोंके मूलकर्ताकृत होनेकी यही कसौटी सोनीर्जा ठहरा दें, तब तो इस ग्रन्थका आधेसे भी अधिक भाग टीकाकारकृत ठहर जायगा। क्योंकि इसमें सैकड़ों ही सूत्र ऐसे हैं जिनका जैनधर्मके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और कोई भी विद्वान् उन्हें जैनसम्मत सिद्ध नहीं कर सकता।

४—जिसतरह टीकापुस्तकमें अनेक सूत्र अधिक हैं और जिन्हें सोनीर्जा टीकाकर्त्ताका गढ़न्त समझते हैं, उसी प्रकार मुद्रित और मूलपुस्तकमें भी कुछ सूत्र अधिक हैं (जो टीकापुस्तकमें नहीं हैं), तब उन्हें किसकी गढ़न्त समझना चाहिए? विद्यावृद्धसमुद्देशके ५९ वें सूत्रके आगे निम्नलिखित पाठ छूटा हुआ है जो मुद्रित और मूलपुस्तकमें मौजूद है:—

“सांख्य योगो लोकायतं चान्वाक्षिका। बौद्धाहंताः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् (नान्वाक्षिकात्वं), प्रकृतिपुरुषश्चो हि राजा सत्त्वमवलम्बते। रजः फलं चाफलं च परिहराते, तमाभिनाभिभूयते।”

भला इन सूत्रोंका टीकाकारने क्यों छाड़ दिया? इसमें कही हुई बातें तो उसके प्रतिकूल नहीं थीं? और मुद्रित तथा मूलपुस्तक दोनों ही यदि जैनोके लिए विशेष प्रामाणिक माना जावे तो उनमें यह अधिक पाठ नहीं होना चाहिए था। क्योंकि इसमें वेदविरोधी होनेके कारण जैन और बौद्धदर्शनको आन्वाक्षिकासे बाहर कर दिया है। और मुद्रित पुस्तकमें तो मूलकर्त्ताके मंगलाचरण तकका अभाव है। वास्तविक बात यह है कि न इसमें टीकाकारका दोष है और न मुद्रित करानेवालेका। जिस जैसी प्रति मिली है उसने उसीके अनुसार टीका लिखी है और पाठ छपाया है। एक प्रतिसे दूसरी और दूसरीसे तीसरी इस तरह प्रतियाँ होते होते लेखकोंके प्रमादसे अकसर पाठ छूट जाते हैं और टिप्पण आदि मूलमें शामिल हो जाते हैं।

हम समझते हैं कि इन बातोंसे पाठकोंका यह भ्रम दूर हो जायगा कि टीकाकारने कुछ सूत्र स्वयं रचकर मूलमें जोड़ दिये हैं। यह केवल सोनीर्जाके मस्तककी उपज है और निस्तार है। खेद है कि हमें उनकी भ्रमपूर्ण टिप्पणियोंके कारण भूमिकाका इतना अधिक स्थान रोकना पड़ा।

एक विचारणीय प्रश्न ।

इस आशासे अधिक बड़ी हुई भूमिकाको समाप्त करनेके पहले हम अपने पाठकोंका ध्यान इस और विशेषरूपसे आकर्षित करना चाहते हैं कि वे इस ग्रन्थका जरा गहराईके साथ अध्ययन करें और देखें कि इसका जैनधर्मके साथ क्या सम्बन्ध है। हमारी समझमें तो इसका जैनधर्मसे बहुत ही कम मेल खाता है। राजनीति यदि धर्मनिरपेक्ष है, अर्थात् वह किसी विशेष धर्मका पक्ष नहीं करती, तो फिर इसका जिस प्रकार जैनधर्मसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है

उसी प्रकार और धर्मोंसे भी नहीं रहना चाहिए था । परंतु हम देखते हैं कि इसका वर्णान्तर और आश्रमाचारकी व्यवस्थाके लिए वैदिक साहित्यकी ओर बहुत अधिक झुकाव है । इस ग्रन्थके विद्यावृद्ध, आन्वाक्षिकी और त्रयी समुद्देशोंको अच्छी तरह पढ़नेसे पाठक हमारे अभिप्रायको अच्छी तरह समझ जावेंगे । जैनधर्मके मर्मज्ञ विद्वानोंको चाहिए कि वे इस प्रश्नका विचारपूर्वक समाधान करें कि एक जैनाचार्यकी कृतिमें आन्वाक्षिकी और त्रयीको इतनी अधिक प्रधानता क्यों दी गई है ।

यशस्तिलकके नीचे लिखे पद्योंको भी इस प्रश्नका उत्तर सोचते समय सामने रख लेना चाहिए:—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः ।

लोकाश्रयो भवेदाद्यः परस्यादागमाश्रयः ॥

जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा ।

श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र न क्षतिः ॥

स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत् ।

तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम् ॥

यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधोस्तत्र दुर्लभा ।

संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः ॥

तथा च— सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।

यत्न सम्यक्त्वहानिर्न यत्न न व्रतदूषणम् ॥

कहीं श्रीसोमदेवसूरि वर्णाश्रमव्यवस्था और तत्सम्बन्धी वैदिक साहित्यको लौकिक धर्म तो नहीं समझते हैं ? और इसी लिए तो यह नहीं कहते हैं कि यदि इस विषय में श्रुति (वेद) और शास्त्रान्तर (स्मृतियाँ) प्रमाण माने जायें तो हमारी क्या हानि है ? राजनीति भी तो लौकिक शास्त्र ही है ।

हमको आशा है कि विद्वज्जन इस प्रश्नको ऐसा ही न पड़ा रहने देंगे ।

मुद्रण-परिचय ।

अबसे कोई २५ वर्ष पहले बम्बईकी मेसर्स गोपाल नारायण कम्पनीने इस ग्रन्थको एक संक्षिप्त व्याख्याके साथ प्रकाशित किया था और लगभग उसी समय विद्याविलासी बड़ोदानरेशने इसके मराठी और गुजराती अनुवाद प्रकाशित कराये थे । उक्त तीनों संस्करणोंको देखकर—जिन दिनों मैं स्वर्गाय स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजीकी अध्यात्मतामें जैनमित्रका सम्पादन करता था—मेरी इच्छा इसका हिन्दी अनुवाद करनेकी हुई और तदनुसार मैंने इसके कई समुद्देशोंका अनुवाद जैनमित्रमें प्रकाशित भी किया; परन्तु इसके आन्वाक्षिकी और त्रयी आदि समुद्देशोंका जैनधर्मके साथ कोई सामंजस्य न कर सकनेके कारण मैं अनुवादकार्यको अधूरा ही छोड़ कर इसकी संस्कृत टीकाकी खोज करने लगा ।

तबसे, इतने दिनोंके बाद, यह टीका प्राप्त हुई और अब यह माणिकचन्द्रग्रन्थमालाके द्वारा प्रकाशित की जा रही है । खेद है कि इसके मध्यके २५-२६ पत्र गायब हैं और वे खोज करनेपर भी नहीं मिले । इसके सिवाय इसकी कोई दूसरी प्रति भी न मिल सकी और इस कारण इसका संशोधन जैसा चाहिए वैसा न कराया जा सका । दृष्टिदोष और अनवधानतासे भी बहुतसी अशुद्धियाँ रह गई हैं । फिर भी हमें आशा है कि मूलग्रन्थके समझनेमें इस टीकासे काफी सहायता मिलेगी और इस दृष्टिसे इस अपूर्ण और अशुद्धरूपमें भी इसका प्रकाशित करना सार्थक होगा ।

हस्तलिखित प्रतिका इतिहास ।

पहले जैनसमाजमें शास्त्रदान करनेकी प्रथा विशेषतासे प्रचलित थी । अनेक धनी मानी गृहस्थ ग्रन्थ लिखा लिखाकर जैनसाधुओं और विद्वानोंको दान किया करते थे और इस पुण्यकृत्यसे अपने ज्ञानावरणयि कर्मका निवारण करते थे । बहुतेरे तो इस कार्यके लिए लेखनशालायें ही खोल रक्खी थी जिनमें निरन्तर प्राचीन अवाचीन ग्रन्थोंकी प्रतियाँ होती रहती थीं । यही कारण है जो उस समय मुद्रणकला न रहने पर भी ग्रन्थोंका यथेष्ट प्रचार रहता था और ज्ञानका प्रकाश मन्द नहीं होने पाता था । स्त्रियोंका इस ओर और भी अधिक लक्ष्य था । इमने ऐसे पचासों हस्तलिखित ग्रन्थ देखे हैं जो धर्मप्राणा स्त्रियोंके द्वारा ही दान किये गये हैं ।

इस शास्त्रदान प्रथाको उत्तेजित करनेके लिए उस समयके विद्वान् प्रायः प्रत्येक दान किये हुए ग्रन्थके अन्तमें दाताकी प्रशस्ति लिख दिया करते थे जिसमें उसका और उसके कुटुम्बका गुणकीर्तन रहा करता था । हमारे प्राचीन पुस्तक-भंडारोंके ग्रन्थोंमेंसे इस तरहकी हजारों प्रशस्तियाँ संग्रह की जा सकती हैं जिनसे इतिहास-सम्पादनके कार्यमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है ।

नीतिवाक्यामृतटीकाकी वह प्रति भी जिसके आधारसे यह ग्रन्थ मुद्रित हुआ है इसी प्रकार एक धनी गृहस्थकी धर्मप्राणा स्त्रोके द्वारा दान की गई थी । ग्रन्थके अन्तमें जो प्रशस्ति दी हुई है, उससे मालूम होता है कि कार्तिक सुदी ५ विक्रमसंवत् १५४१ को, हिसार नगरके चन्द्रप्रभंचेल्यालयमें, सुलतान बहलोल (लोदी) के राज्यकालमें, यह प्रति दान की गई थी ।

नागपुर या नागौरके रहनेवाले खण्डेलवालवंशीय क्षेत्तपालगोत्राय संघपति कामाकी भार्या साध्वी कमलश्रीने हिसार निवासी पं० मेहा या मीहाको इस भक्तिभावपूर्वक भेंट किया था ।

कल्लू नामक संघपतिकी भार्याका नाम राणी था । उसके चार पुत्र थे—हंवा, धोरा, कामा और सुर-पाति । इनमेंसे ताँसरे पुत्र संघपति कामाकी भार्या उक्त साध्वी कमलश्री थीं जिसने ग्रन्थ दान किया था । कमल-श्रीसे भीवा और चच्छूक नामके दो पुत्र थे । इनमेंसे भीवाकी भार्या भिउंसिरिके गुरुदास नामक पुत्र था जिसकी गुणश्री भार्याके गर्भसे रणमल्ल और जट्ट नामके दो पुत्र थे । दूसरे चच्छूककी भार्या वडासिरिके राघवदास पुत्र था जिसकी स्त्रीका नाम सरस्वती था । पाठक देखें कि यह परिवार कितना बड़ा और कितना दीर्घजीवी था । कमलश्रीके सामने उसके प्रपौत्र तक मौजूद थे ।

पण्डित मेहा या मीहाका दूसरा नाम पं० मेधावी था । ये वहाँ मेधावी हैं जिन्होंने धर्मसंग्रहभावकाचार नामका ग्रन्थ बनाया है और जो मुद्रित हो चुका है । पं० मीहा अपनी गुरुपरम्पराके विषयमें कहते हैं कि नन्दिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छके भट्टारक पद्मनन्दिके शिष्य भ० शुभचन्द्र और उनके शिष्य भ० जिनचन्द्र मेरे गुरु थे । जिनचन्द्रके दो शिष्य और थे—एक रत्ननन्दि और दूसरे विमलकीर्ति ।

यह पुस्तकदाताकी प्रशस्ति पं० मेधावीकी ही लिखी हुई मालूम होती है । उन्होंने त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति, मूलाचारकी वसुनन्दिवृत्ति आदि ग्रन्थोंमें और भी कई बड़ी बड़ी प्रशस्तियाँ लिखी हैं । वसुनन्दि वृत्तिकी प्रशस्ति वि० सं० १५१६ की और त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति की १५१९ की लिखी हुई है * । धर्मसंग्रहभावकाचार उन्होंने कार्तिक वदी १३ सं० १५४१ को समाप्त किया है । नीतिवाक्यामृतटीकाकी यह प्रशस्ति धर्मसंग्रहके समाप्त होनेके कोई आठ दिन बाद ही लिखी गई है ।

धर्मसंग्रहमें पं० मेधावीने अपने पिताका नाम उद्धरण, माताका भीषुही और पुत्रका जिनदास लिखा है । वे अप्रवाल जातिके थे और अपने समयके एक प्रसिद्ध विद्वान् थे । उन्होंने दक्षिणके पुस्तकगच्छके आचार्य भुतमुनिसे अन्य कई विद्वानोंके साथ अष्टसहस्री (विद्यानन्दस्वामीकृत) पढी थी । जान पड़ता है कि उस समय हिसारमें जैन विद्वानोंका अच्छा समूह था । भट्टारकोंकी गद्दी भी शायद वहाँ पर थी ।

यह टीकापुस्तक हिसारसे आमेरके पुस्तक भंडारमें कब और कैसे पहुँची, इसका कोई पता नहीं है । आमेरके भंडारमेंसे सं० १९६४ में भट्टारक महेन्द्रकीर्ति द्वारा यह बाहर निकाली गई और उसके बाद जयपुर निवासी पं० इन्द्र-लालजी शास्त्रीके प्रयत्नसे हमको इसकी प्राप्ति हुई । इसके लिए हम भट्टारकजी और शास्त्रीजी दोनोंके कृतज्ञ हैं ।

इस प्रतिमें १३३ पत्र हैं और प्रत्येक पृष्ठमें प्रायः २० पंक्तियाँ हैं । प्रत्येक पत्रकी लम्बाई ११॥ इंच और चौड़ाई ५॥ इंचसे कुछ कम है । ५१ से ७५ तकके पृष्ठ मौजूद नहीं हैं ।

बम्बई ।
पौषशुक्ला तृतीया १९७९ वि० ।

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी ।

[नोट:— ' भारतीय वाङ्मय ' का जर्मन भाषामें विस्तृत और परिपूर्ण इतिहास लिखनेवाले प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० विण्टरनिट्स, जो वर्तमानमें बङ्गीय साहित्य सम्राट् कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर संस्थापित शांतिनिकेतनकी विश्व-भारती संस्थाको अपने ज्ञानका दान कर रहे हैं; उनके पास ' नीतिवाक्यामृत ' की १ प्रति अभिप्रायाथ भेट की गई थी। इस भेटके स्वीकाररूपमें डॉ० महाशयने ग्रन्थमालाके मंत्री और इस प्रस्तावनाके लेखक श्रीयुत प्रेमीजीके पास जो एक पत्र भेजा है वह यहाँपर मुद्रित किया जाता है। इससे, सोमदेवसूरिके नीतिवाक्यामृतके बारेमें डॉ० महाशयका कैसा अभिप्राय है वह थोड़ेमें ज्ञात हो जाता है। इस ग्रन्थके बारेमें, जैसा कि डॉ० महाशयने अपने इस पत्रमें सूचित किया है, विशेष उल्लेख, उन्होंने अपने भारतीय वाङ्मयके इतिहासके तीसरे भाग, (जो हालहामें प्रकाशित हुआ है) पृ० ५०२७-५३० में किया है। —संपादक।

(Santiniketana, Birbhum, Bengal)

Srinagar (Kashmir) 25-4-23,

To Nathurama Premi, Mautri,

Manikachanda-Jaina Granthamala,

Bombay.

Dear Sir,

I beg to acknowledge the receipt of one copy of Nitivakyamritam Satikam, published in the Jaina Granthamala. As I have pointed out in the third volume of my 'History of Indian Literature,' the work is of the greatest importance both on account of its contents and especially as the date of its author is well known. Though quoting largely from the Kautilya Arthashastra, Somadeva is yet quite an original writer and treats his subject from a different point of view. The late Jainacharya Vijaya Dharma Suri had lent me a copy of the old edition of the book which is very rare. I often urged upon him the necessity of a new edition of this important work. I am very glad that the work is now accessible in such a handy and excellent edition, and I am very much obliged to you for sending me a copy.

It is a pity that the introduction is not in English or in Sanskrit, as few Europeans read the Vernacular.

Yours truly,

M. WINTERITZ.

(शान्तिनिकेतन, बिरभूम बंगाल)

श्रीनगर (काश्मीर) ता. २५-४-२३

नाथूराम प्रेमी, मंत्री

माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला मुंबई.

प्रिय महाशय,

आपकी जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशितक सटीक नीतिवाक्यामृतकी पुस्तक मुझे मिली। जैसा कि मैंने अपने ' भारतीय वाङ्मयका इतिहास ' नामक ग्रन्थके तीसरे भागमें लिखा है, यह ग्रन्थ, अन्दरके विषय और इसके कर्ताके समयकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वका है। यद्यपि कौटिल्यके ग्रन्थका इसमें अनुसरण किया गया है तथापि सोमदेवसूरि स्वतंत्र लेखक हो कर विषय प्रतिपादनका शैली उनकी निराली ही है। जैनाचार्य विजयधर्मसूरिने इस ग्रन्थकी अत्यंत दुर्लभ्य ऐसी एक प्रति मुझे दी थी और इस महत्त्वके ग्रन्थकी दूसरी आवृत्ति प्रकट करनी चाहिए ऐसा मैंने आप्रह भी उनसे किया था। अब इस ग्रन्थकी सुन्दर आकारमें उत्तम रीतिसे प्रकट की हुई इस आवृत्तिको देख कर मुझे आनंद होता है और आपने जो इसकी एक प्रति मुझे भेजी इस लिए मैं आपका बहुत ही उपकृत हूँ।

इसकी प्रस्तावना इंग्रेजी या संस्कृतमें नहीं लिखी गई इस लिए मुझे खेद होता है, क्यों कि देशभाषा जानने वाला युरोपियन कवि, ही होता है।

आपका,

एम. विन्टरनिट्स

કીર ગ્રામનો જૈન શિલાલેખ.

[પંજાબ પ્રાંતના કાંગડા જિલ્લામાં કીરગ્રામ કરીને એક સ્થાન છે અને ત્યાં શિવ-વૈશ્ણનાથનું પ્રાચીન અને પ્રખ્યાત ધામ છે. એ વૈશ્ણનાથના મંદિરમાં કોઈ જૈન પ્રતિમાનું પાષાણનું સિંહાસન ક્યાંએથી આવી ગયું છે એના ઉપર નીચે આપેલો લેખ કોતરેલો છે. એ લેખ એપિગ્રાફિઆ ઇન્ડિકાના, ૧ લા ભાગના, ૧૧૮ પાન ઉપર ડૉ. જી. બુલ્હરે સંક્ષિપ્ત વિવેચન સાથે પ્રકટ કરેલો છે. એ વિવેચન અને લેખ આ પ્રમાણે છે.— સંપાદક]

નીચે આપેલો લેખ કાંગડાના કીરગ્રામમાં આવેલા શિવ-વૈશ્ણનાથના દેવાલયમાંથી મળી આવેલો છે. એ લેખ જૈન નાગરી અક્ષરોમાં બે લીટિઓમાં લખેલો છે. આ લીટિઓ મહાવીરની પ્રતિમાની બેઠકની ત્રણ બાજુએ ચાર સોટા અને બે નાના ભાગમાં વહેંચાણી છે. લેખ લગભગ સારી સ્થિતિમાં છે. આં દોલ્હણ અને આલ્હણ નામના બે વ્યાપારિઓએ આ પ્રતિમા બનાવ્યા વિધે તથા દેવભદ્રસૂરિએ એની પ્રતિષ્ઠા કર્યા વિધે ઉલ્લેખ કરેલો છે. વઢી કીરગ્રામમાં આ બંને માઈઓએ મહાવીરનું એક મંદિર બંધાવ્યાની નોંધ પણ આમાં કરેલી છે. વર્તમાનમાં, કીરગ્રામમાં કોઈ પણ જૂના જૈન મંદિરની હયાતી જણાતી નથી તેથી એમ લાગે છે કે એ મંદિર નષ્ટ થઈ ગયું છે અને આ બેસળી કોઈએ ત્યાંથી ઉપાડી લાવી શિવના દેવાલયમાં સૂકી દીધી છે. એ દેવાલયના અધિકારિઓની અજાણતાને લીધે આ લેખ સહી સલામત રહેવા પામ્યો હોય એમ લાગે છે.

સૂરિ અને મંદિર બનાવનારા ગુજરાતી હોવા જોઈએ ; પંજાબી નહીં. પ્રતિષ્ઠા કરનાર સૂરિ પણ ગુજરાતના હતા. કારણ કે દોલ્હણ અને આલ્હણ બ્રહ્મક્ષત્ર ગોત્ર અગર જ્ઞાતિના હતા કે જે જ્ઞાતિ ગુજરાતમાં વધારે છે. ૧૮૮૧ ના સેન્સસ રીપોર્ટ પ્રમાણે પંજાબમાં તે જ્ઞાતિ જણાતી નથી. સૂરી દેવભદ્રનો ગુજરાત સાથે સંબંધ તેમના ગુરુ અભયદેવના લીધે છે. આ અભયદેવને ‘રુદ્ર પહ્લીય’ કહેવામાં આવે છે ; અને તે જિનવલ્લભ સૂરિની શિષ્યસંતાતિમાંના હતા. આ જિનવલ્લભ તે સ્વરત્તર ગચ્છની પટ્ટાવલીમાં કહેલા જે ૪૩ માં પટ્ટધર અને યુગપ્રધાન પદધારી છે તે જ છે. તેઓ એક નવો સંપ્રદાય જેને અહીં ‘સંતાન’ ના વિશેષણથી ઉલ્લેખેલો છે તે ચલાવ્યા પછી વિ. સં. ૧૧૬૭ માં સ્વર્ગસ્થ થયા હતા. તેમના પછી થયેલા આચાર્ય જિનદત્તના વચ્ચેમાં સ્વરત્તર ગચ્છની રુદ્રપહ્લીય શાખાની સ્થાપના જિનશેષરાચાર્યે વિ. સં. ૧૨૦૪ માં કરી હતી. તેથી આ લેખમાં જણાવેલા દેવભદ્રસૂરિ શ્વેતાંબર મતના સ્વરત્તર ગચ્છની એક શાખાના હતા. જૂની પરંપરા પ્રમાણે સ્વરત્તર ગચ્છની સ્થાપના ગુજરાતના અણહિલવાડ પાટણમાં થઈ હતી. લેખની મિતિ ‘સંવત્ ૬૮૯’ વિ. સં. ૧૨૯૬ ફાલ્ગુણ વદિ ૫ ; રવિવાર’ તે ડૉક્ટર સ્ક્રેમ (Dr. Schram) ની ગણના પ્રમાણે ઈ. સ. ૧૨૪૦ ની ૧૫ જાન્યુઆરી બરાબર થાય છે. જનરલ સર કર્નિંગહામ જેને આ લેખ પ્રથમ શોધી કાઢ્યો હતો તેમણે પોતાના આર્કિઓલોજિકલ રીપોર્ટ્સ (પુ. ૫ પાન ૧૮૩) માં એ લેખની જે નકલ આપી છે, તે અધૂરી છે. કારણ કે તેમાં ‘ક્ષેત્રગોત્રો’ થી ‘પુત્રાભ્યાં’ અને ‘પ્રતિ-

૧ અહીં આપેલી લેખની નકલ પંજાબ આર્કિઓલોજિકલ સર્વેય તરફથી મળેલી એક સારી છાપ ઉપરથી પાઠેલી છે.

૨ ક્લો-ક્લેટ (klatā) ઈ. પં. પુ. ૧૧, પા. ૨૪૮ અને ૨૫૪.

ષ્ટિતં' થી 'સંતાનીય' સૂધીની બે લીટિઓ મૂકી દીધેલી છે. આને લીધે તેમ જ કેટલાક ઓટા-પાઠોને લીધે તેમની નકલ ઉપરથી ભાષાંતર કરવું કેવળ અશક્ય છે.

મૂલ લેખ

૧. ઓ. સંવત્ ૧૨૯૬ વર્ષે ફાલ્ગુણ વદિ ૫ રવૌ કીરપ્રામે બ્રહ્મક્ષત્ર ગોત્રોત્પન્ન વ્યવ. માનૂ પુત્રાભ્યાં વ્ય. દોલ્હણ આલ્હણાભ્યાં સ્વકારિત શ્રીમન્મહાવીર દેવ ચૈત્યે ॥

૨. શ્રીમહાવીર જિન મૂલ વિંબં આત્મશ્રેયો [થં] કારિતં । પ્રતિષ્ઠિતં ચ શ્રીજિનવલ્લભ સૂરિ-સંતાનીય રુદ્રપલીય શ્રીમદ્ભયદેવસૂરિ શિષ્યૈઃ શ્રીદેવભદ્ર સૂરિભિઃ ॥

ભાષાંતર

ૐ. (લૌકિક) વર્ષ ૧૨૯૬ ના ફાલ્ગુણ વદિ પંચમીને [દિવસે]—કીરપ્રામમાં બ્રહ્મક્ષત્ર જ્ઞાતિના વ્યાપારી માનૂના બે પુત્રો વ્યાપારી દોલ્હણ અને આલ્હણે પોતે બંધાવેલા શ્રીમન્મહાવીર દેવના મન્દિરમાં શ્રી મહાવીર જિનની મુખ્ય પ્રતિમા, પોતાના કલ્યાણમાટે કરાવી. તેની પ્રતિષ્ઠા શ્રીજિનવલ્લભ સૂરિના 'સંતાનીય' રુદ્રપલીય શ્રીમત્સૂરિ અભયદેવના શિષ્ય શ્રીસૂરિ દેવભદ્રે કરી.



૩. જનરલ કનિંગહામ કહે છે કે શિવવૈયનાથના દેવાલયના ઇતિહાસ સાથે આ લેખનો કોઈ સંબંધ નથી.

૪. પંક્તિ ૧ લી—ઓં વાંચવું; કીરપ્રામે ના ર તથા પ્ર જોડેલા છે તે મૂલ છે; બ્રહ્મ વાંચવું; ક્ષ ના ઉપર એક મૂલથી કરેલ માત્ર કાઢી નાંખેલ છે; કદાચ 'માતૃપુત્રાભ્યાં' સ્વરો પાઠ હોય. કારણ કે ત તથા ન ઓઠસાચ તેવા નથી. [પણ તે બરાબર નથી; 'માનૂ' શબ્દ જ બરાબર છે. કારણ કે તેની પહેલાં વ્ય. = વ્યવહારી શબ્દ પડેલો છે જે માતૃપુત્રા. પાઠ કેતાં નિરર્થક અને અસંબદ્ધ થઈ જાય છે—સંપાદક.]

૫. પંક્તિ ૨ જી—શ્રેયોર્થ નો થ જતો રહ્યો છે; સંતાનીય નો તા સ્પષ્ટ નથી.

૬. વર્ષેનું ભાષાંતર લૌકિક વર્ષે કરું, કારણ કે વિક્રમ સંવત્ પછી વર્ષેને વર્ષે વળિવાર લૌકિક વર્ષે વાપરવામાં આવે છે. પશ્ચિમ તથા ઉત્તર પશ્ચિમ હિંદુસ્થાનમાં વિક્રમ સંવત્નાં વર્ષોને લૌકિક વર્ષો કહે છે. અને શક સંવત્ને શાકાબ્દી વર્ષો કહે છે. કારણ કે તે ય્યોતિષ વિગેરે વિષયોમાં આવે છે.

૭. લેખમાં જે ફાલ્ગુણ લખ્યું છે તે અર્થ પ્રાકૃત અને અર્થ સંસ્કૃત રૂપ છે.

૮. મૂલ વિંબ શબ્દને ભાષાંતર કર્યા શિવાય જ હું રહેવા દઉં છું. તેનો સાચો અર્થ શો છે તેની સ્વર નથી. હું ચાહું છું કે બીજી નાની મોટી પ્રતિમાઓથી તેને સાચો ઓઠસાચા માટે તેનું નામ આપું પાડવું હશે. એનો અર્થ કદાચ 'મુખ્ય પ્રતિમા' થઈ શકે. [એ જ અર્થ થાય છે. સં.]

૯. પ્રતિષ્ઠિતં એ સંસ્કૃતના નિયમ પ્રમાણે શુદ્ધ નથી. પણ જૈન પુસ્તકોમાં એ ઘણાં ઠેકાણે જોવામાં આવે છે. સ્ત્રી રીતે પ્રતિષ્ઠાપિતં એ અગર પ્રતિષ્ઠા કૃતા એ પણ પાઠ જોઈએ.

महाकवि पुष्पदन्त और उनका महापुराण ।

[अपभ्रंश भाषा का एक महाकवि और महान् ग्रन्थ ।]

(लेखक—श्रीयुन पं. नाथूरामजी प्रेमी ।)

भारत में अनेक शताब्दियों तक जो आर्य भाषायें प्रचलित रही हैं, वे सब प्राकृत कहलाती हैं। प्राकृत शब्द का अर्थ है स्वाभाविक—कृत्रिमता के दोष से रहित और संस्कृत का अर्थ है संस्कार की हुई मार्जित भाषा। वैदिक सूक्त जिस सरल और प्रचलित भाषा में लिखे गये थे, उस भाषा को प्राकृत ही कहना चाहिए। इस आदि प्राकृत भाषा से जिन सब आर्य भाषाओं का विकास हुआ है, उनकी गणना दूसरी श्रेणी की प्राकृत में होती है। यह द्वितीय श्रेणी की प्राकृत अशोक के शिलालेखों में मिलती है। बौद्धशास्त्रों की प्रधान भाषा पाली भी इसी दूसरी श्रेणी की प्राकृतों में से है। इस समय प्राकृत कहने से पाली की अपेक्षा उन्नत भाषा का बोध होता है।

अशोक के समय की आर्य भाषा की दो प्रधान शाखायें थीं, एक पश्चिमी प्राकृत और दूसरी पूर्वीय प्राकृत। पश्चिमी प्राकृत को सौरसेनी या सूरसेन (मथुरा) की भाषा कहते थे और पूर्वीय को मागधी या मगध की भाषा। इन दोनों पूर्वीय और पश्चिमी भाषाओं के बीचों बीच एक और भाषा बोली जाती थी जो अर्ध मागधी के नाम से प्रसिद्ध थी। कहा जाता है कि भगवान् महावीर ने इसी भाषा के द्वारा अपने सिद्धांतों का प्रचार किया था। प्राचीन जैन ग्रन्थ इसी भाषा में लिखे गये थे। प्राचीन मराठी के साथ इस भाषा का बहुत ही निकट सम्बन्ध है। प्राचीन प्राकृत काव्य इसी प्राचीन मराठी में लिखे गये हैं।

उक्त दूसरी श्रेणी की प्राकृत भाषाओं के बाद की भाषा अपभ्रंश कहलाती है। जो दूसरी श्रेणी की प्राकृत का पिछला और विशेष विकसित रूप है। यों अपभ्रंश का साधारण अर्थ दुषित या विकृत होता है; परन्तु भाषा के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने पर इस का अर्थ उन्नत या विकसित होता है। वर्तमान प्रचलित आर्य भाषायें जिन भाषाओं से निकली हैं, उनकी गणना अपभ्रंश में होती है। इन अपभ्रंश भाषाओं में भी एक समय अनेकानेक ग्रन्थ लिखे गये थे जिनमें से बहुत से इस समय भी मिलते हैं। जान पड़ता है, इन भाषाओं का साहित्य बहुत प्रौढ़ हो गया था और सर्वसाधारण में बहुत ही आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इस साहित्य में हम उस समय की बोलचाल की भाषाओं की अस्पष्ट छाया पा सकते हैं। विक्रम की सातवीं शताब्दि तक के अपभ्रंश साहित्य का पता लगा है। इसके बाद जान पड़ता है कि इस भाषा का प्रचार नहीं रहा। अपभ्रंश के पहले की प्राकृत भाषाओं का प्रचार दसवीं शताब्दि के बाद नहीं रहा।

उक्त अपभ्रंश भाषाओं की गणना दूसरी श्रेणी की ही प्राकृत में की जाती है। उनके बाद आधुनिक भाषाओं का काल आता है जिन्हें हम तीसरी श्रेणी की प्राकृत में गिनते हैं। इन भाषाओं का निदर्शन हम तेरहवीं शताब्दि के लगभग पाते हैं। अतएव मौटे हिसाब से कहा जा सकता है कि दशवीं शताब्दि से आधुनिक आर्य भाषाओं का प्रचलन आरम्भ हुआ है और अपभ्रंश से ही इन सब का विकास हुआ है। संक्षेप में प्राकृत भाषाओं का यही इतिहास है।

इस लेख में हम जिस महाकवि का परिचय देना चाहते हैं, उसकी रचना इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं में की एक भाषा में हुई है जिसे हम दक्षिण महाराष्ट्र की अपभ्रंश कह सकते हैं। दक्षिण की होने पर भी पाठक देखेंगे कि इसकी प्रकृति हमारी हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं से कितनी मिलती जुलती हुई है।

हमें पुष्पदन्त से भी पहले के अपभ्रंश साहित्य के कुछ ग्रन्थ मिले हैं जिन का परिचय हम आगे के किसी अंक में देना चाहते हैं।

महाकवि पुष्पदन्त कहां के रहनेवाले थे, इसका पता नहीं लगता। उनके ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है उसके अनुसार हम उन्हें सब से पहले मेलाड़ि नगर में जो संभवतः मान्यखेट का ही दूसरा नाम है, पाते हैं। वहां वे पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए आ पहुंचते हैं और वहीं से उनके कवि-जीवन का प्रारम्भ होता है।

वे काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम केशव और माता का मुग्धादेवी था। एक जगह उन्होंने अपने पिता का नाम कन्हड़ लिखा है* जो केशव के ही पर्यायवाची शब्द कृष्ण का अपभ्रंश रूप है। 'खण्ड' यह शायद उनका प्रचलित नाम था जो उनके ग्रन्थों में जगह २ व्यवहृत हुआ है। अभिमानमेरु, काव्यरत्नाकर, कव्योपसत्तल (काव्यपिशाच) या काव्यराक्षस, कविकुलतिलक, सरस्वतीनिलय आदि उनके उपनाम थे।

वे शरीर से कृश थे, कृष्णवर्ण थे, कुरूप थे परन्तु सदा प्रसन्नमुख रहते थे। उन्होंने आपको स्त्रीपुत्र हीन लिखा है; परन्तु संभव है यह उस समय की ही अवस्था का द्योतक हो जब वे मान्यखेटपुर में थे और अपने (उपलब्ध) ग्रन्थों की रचना कर रहे थे। इसके पहले जहां के वे रहनेवाले थे वहां शायद वे गृहस्थ रहें हों और विवाह आदि भी हुआ हो। यद्यपि अपने ग्रन्थों में उन्होंने अपना बहुत कुछ परिचय दिया है; परन्तु उससे यह नहीं मालूम होता है कि मान्यखेट में आने के पहले उनकी क्या अवस्था थी और न यही स्पष्ट होता है कि वास्तव में उन्होंने अपनी जन्मभूमि क्यों छोड़ी थी। केवल यही मालूम होता है कि दुष्टों ने उनको अपमानित किया था और उन्हीं से संव्रस्त होकर वे भटकते भटकते बड़े ही दुर्गम और लम्बे रास्ते को तय करके मान्यखेट तक आये थे। उनके हृदय पर कोई बड़ी ही गहरी ठेंस लगी थी और इस से उन्हें सारी पृथ्वी दुर्जनो से ही भरी हुई दिखलाई देती थी। लोगों की इस दुर्जनता का और संसार की नीरसता का उन्होंने अपने ग्रन्थों की उत्थानिकाओं में बार बार और बहुत अधिक वर्णन किया है। अपने समय को भी उन्होंने खूब ही कोसा है, उसे कलिमलमलिन, निर्दय, निर्गुण, दुर्नीतिपूर्ण और विपरीत विशेषण दिये हैं और कहा है कि "जो जो दीसई सो सो दुज्जणु, णिष्फल नीरसु णं सुकड वणु।" अर्थात् जो जो दिखते हैं वे सब दुर्जन हैं, सूखे हुए वन के समान निष्फल और नीरस हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि वे किसी राजा के द्वारा सताये हुए थे और उसी के कारण उन्हें अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ी थी। इसी कारण उन्होंने कई जगह राजाओं पर गहरे कटाक्ष किये हैं। उनके भ्रुकुटित नेत्रों और प्रभुवचनों को देखने सुनने की अपेक्षा मर जाना अच्छा बतलाया है। वे भरत मंत्री से कहते हैं कि—"वह लक्ष्मी किस काम की जिसने दुरते हुए चँवरों की हवा से सारे गुणों को उड़ा दिया है, अभिषेक के जल से सुजनता को धो डाला है, और जो विद्वानों से विरक्त रहती है। × × इस समय लोग नीरस और निर्विशेष हो गये हैं, वे गुणीजनों से ब्रूष करते हैं, इसी लिए मुझे इस वन को शरण लेनी पड़ी है।"

जिस राजासे संत्रस्त होकर पुष्पदन्तकवि मान्यखेट में आये वह शायद वीरराव था। आदिपुराण के प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण में इस शब्द पर 'शूद्रक' और 'कावीपति' टिप्पण दिया है और हमारी समझ में 'कांची' को जगह कावी लिपिकर्त्ता के दोष से लिख गया है X। इस से मालूम होता है कि वीरराव कांची (काञ्जीवरम्) का राजा होगा और शूद्रक उसका नामान्तर होगा। यह संभवतः पल्लववंशका था। आदिपुराणकी उत्थानिका के 'णिय सिरि विसैस' और 'पडमण्णइ' आदि दो पद्यों का अभिप्राय अच्छी तरह स्पष्ट नहीं होता है, फिर भी पेसा भास होता है कि पुष्पदन्त का उक्त वीरराव से पहले सम्बन्ध था और उस के सम्बन्ध में उस ने कुछ काव्य रचना भी की थी। शायद इसी कारण भरतमन्त्री ने पुष्पदन्त से कहा है कि वीरराव का वर्णन करने से जो मिथ्यात्व भाव उत्पन्न हुआ है, उस क प्रायश्चित्तस्वरूप यदि तुम आदिनाथ के चरित की रचना करो तो तुम्हारा परलोक सुधर जाय *। जान पड़ता है कि वीरराव कोई दुष्ट और जैनधर्म का द्वेषी राजा था।

पुष्पदन्त भ्रमण करते करते मान्यखेट के बाहर किसी उद्यान में पड़े हुए थे। वहाँ अम्मइया और इन्द्रराज नामक दो पुरुषों ने आकर उनसे कहा कि आप इस निर्जन स्थान में क्यों पड़े हुए हैं, पास ही यह बड़ा नगर है वहाँ चलिए। वहाँ शुभतुंगराजा के महामात्य भरत बड़े विद्याप्रेमी और कवियों के लिए कामधेनु हैं। भरत की लोकोत्तर प्रशंसा सुन कर पुष्पदन्त नगर में गये। वहाँ भरतमन्त्री ने उनका बहुत ही सत्कार किया और उन्हें अपने पास रक्खा। कुछ दिनों के बाद भरत ने उन से काव्यरचना करने के लिए कहा। इस पर कवि ने कहा कि यह समय बहुत बुरा है। संसार दुर्जनों से भरा हुआ है। जहाँ तहाँ छिद्रान्वेषी ही दिखलाई देते हैं। प्रवरसेन के सेतुबन्ध जैसे उत्कृष्ट काव्य की भी जब लोग निन्दा करते हैं, तब मुझे इस कार्य में कोर्ति कैसे मिलेगी? इस पर भरत ने कहा कि दुर्जनों का तो यह स्वभाव ही है, उल्लू को सूर्य भी अच्छा नहीं लगता। उनकी आप को परवा न करनी चाहिए। इस के उत्तर में कवि ने अपनी लघुता प्रकट की और कहा कि मैं दर्शन, व्याकरण, काव्य, छन्दशास्त्र आदि के ज्ञान से कोरा हूँ, ऐसी दशा में मुझ से महापुराण की रचना कैसे होगी, यह तो समुद्र को एक कूंडे में भरने जैसा अशक्य कार्य है, फिर भी आप के आग्रह से और जिन भक्ति वश मैं इस की रचना में प्रवृत्त होता हूँ, मधुकर जैसा क्षुद्र प्राणी भी विशाल आकाश में भ्रमण कर सकता है।

उक्त सब बातें आदिपुराण की उत्थानिका से ली गई हैं। इस के बाद उत्तरपुराण का प्रारंभ होता है। उस समय काविराज का चित्त उद्विग्न हो उठा। रचना से उन का जी उचट गया। तब एक दिन सरस्वती देवी ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिया और कहा कि अरिहंत भगवान् को नमस्कार करो। यह सुनते ही काविराज जाग उठे। उन्होंने ने चारों ओर देखा; परन्तु कहीं कोई भी दिखलाई न दिया। बड़ा आश्चर्य हुआ। इस के बाद भरतमन्त्री उन से मिले। उन्होंने ने कहा कि, क्या आप सचमुच हो पागल हो गये हैं? आप का मुख उतरा हुआ है, चित्त ठिकाने नहीं है। ग्रन्थरचना क्यों नहीं करते? क्या मुझसे आप का कोई अपराध बन पड़ा? क्या बात है। मैं हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ। मैं आपका चाहा हुआ सब कुछ देने के लिए तैयार हूँ। यह जोखन अस्थिर और असार है। जब आप को सरस्वती कामधेनु सिद्ध है, तब आप उसका नवरसरूप दूध क्यों नहीं दोहते? इस पर काविराज ने फिर वही समय

X पुरानी लिपि में 'व' और 'व' लगभग एक से लिखे जाते हैं और इस कारण पीछे के लेखकों ने इन दोनों के भेद को अच्छी तरह न समझने के कारण अकसर 'व' को 'व' लिखा है।

* पई मण्णिउं वण्णिउं वीर राउ, उप्पण्णउं जो मिच्छत्त भाउ।

पच्छित्तु तासु जइ करहि अज्ज, ता वडई तुज्झ परलोयकज्जु ॥

की और दुर्जनों की शिकायत की और कहा कि इस कारण मुझ से एक पद भी नहीं लिखा जाता है। अन्त में उन्होंने ने कहा कि फिर भी मैं तुम्हारी प्रार्थना को नहीं टाल सकता। तुम मेरे मित्र हो और शालिवाहन तथा श्रीहर्ष से भी बढ़कर विद्वानों का आदर करनेवाले हो। तुमने मुझे सदा प्रसन्न रक्खा है। परन्तु जो यह कहा कि मैं सब कुछ देने के लिए तैयार हूँ, सो मैं तुम से अकृत्रिम धर्मानुराग के सिवाय और कुछ भी नहीं चाहता हूँ। धन को मैं तिनके के समान गिनता हूँ। मेरा कवित्व केवल जिनचरणों की भक्ति से ही प्रस्फुटित होता है—जीविका की मुझे जरा भी परवा नहीं है। ये सब बातें कविने उत्तरपुराणकी उत्थानिका में प्रकट की हैं।

पुष्पदन्त दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुयायी थे; परन्तु वे अपने किसी गुरु का कहीं कोई उल्लेख नहीं करते हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि वे गृहत्यागी साधु नहीं थे। यह भी संभव है कि पहले वे वेदानुयायी रहे हों और पीछे किसी कारण से जैनधर्म पर उनकी श्रद्धा हो गई हो, अथवा भरतमन्त्री के संसर्गसे ही वे जैनधर्म के उपासक बन गये हों, किसी जैन साधु या मुनिसे उनका परिचय न हुआ हो। उन्होंने अपने को जगह जगह जिनपदभक्त, धर्मासक्त, व्रतसंयुक्त (व्रतीश्रावक) और विगलितशंक (शंका रहित सम्यग्दृष्टी) आदि विशेषण दिये हैं, इस लिए उनके दृढ़ जैन होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। अपने ग्रन्थों में जैनधर्म के तत्त्वों का भी उन्होंने बड़ी योग्यतासे प्रतिपादन किया है।

पुष्पदन्त का स्वभाव एक विचित्र ही प्रकार का मालूम होता है। उनका 'अभिमानमेक' नाम उनके स्वभाव को और भी विशेषता से स्पष्ट करता है। 'मान' के सिवाय वे और किसी चीज के भूखे नहीं जान पड़ते। एक बड़े भारी राजा के वैभवशाली मन्त्री का आश्रय पाकर भी वे धन वैभव से अलस ही रहे जान पड़ते हैं। महापुराण के अन्त में उन्होंने अपने लिये जो विशेषण दिये हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं—शून्यभवन और देवकुलिकाओं में रहनेवाले, बिना घर-द्वार के, स्त्री-पुत्र रहित, नदी वापी और तालावों में स्नान करनेवाले, फटे कपड़े और वल्कल पहिनेवाले, धूलिधूसरित, जमीन पर सोनेवाले तथा अपने हाथों को ही ओढ़ना बनानेवाले, और समाधि मरण की आकांक्षा रखनेवाले। ये विशेषण इस अकिञ्चन महाकवि के चित्र को आँखों के सामने खड़ा कर देते हैं।

सचमुच ही पुष्पदन्त अद्भुत कवि थे। वे अपने हृदय के आवेगों को रोक नहीं सकते हैं। वे जिसे हृदय से चाहते हैं उसकी प्रशंसा के पुल बांध देते हैं और जिससे घृणा करते हैं उस की निन्दा करने में भी कुछ उठा नहीं रखते। अपनी प्रशंसा करने में भी उनकी कविता क, प्रवाह स्वच्छन्द गति से प्रवाहित हुआ है। इस प्रशंसा के औचित्य अनौचित्य का विचार भी उनका स्वेच्छाचारी कविहृदय नहीं कर सका है। जो खोलकर उन्होंने अपनी प्रशंसा की है। संभव है, इस समय की दृष्टि से वह ठीक मालूम न हो; परन्तु उन की सरस और सुन्दर रचना को देखते हुए तो उस में कोई अत्युक्ति नहीं जान पड़ती।

पुष्पदन्तने अपना आदिपुराण सिद्धार्थसंवत्सर में लिखना शुरू किया था जिस समय तुडिगु नाम के राजा राज्य करते थे और उन्होंने किसी चोल राजा का मस्तक काटा था। इस 'तुडिगु' शब्द पर इस ग्रन्थ की प्रायः सभी प्रतियों में 'कृष्णराजः' टिप्पणी दी हुई है। इसी ग्रन्थ में उक्त राजा का एक जगह 'शुभतुंगदेव' और दूसरी जगह 'मैरवनरेन्द्र' नाम से उल्लेख किया गया है और दोनों जगह उनके नामों पर टिप्पणी दे कर 'कृष्णराजः' लिखा है। इसी तरह यशोधर चरित्र में 'वल्लभनरेन्द्र' नाम से उल्लेख किया है और वहाँ भी टिप्पणी में 'कृष्णराजः' लिखा है। अर्थात् तुडिगु, शुभतुंगदेव, मैरवनरेन्द्र, वल्लभनरेन्द्र और कृष्णराज ये पाँचों एक ही

राजा के नाम हैं और इन्हीं के समय में पुष्पदन्तने अपने ग्रन्थों की रचना की है। एक जगह तुडिग को 'भुवनैकराम' विशेषण दिया है, जो कि उसकी एक विरुद्ध थी। इसके सिवाय उसे 'राजाधिराज' लिखा है। आदिपुराण के २७ वें परिच्छेद के प्रारंभ में भरतमन्त्री की प्रशंसा करते हुए उसे 'भारत' (महाभारत) की उपमा दी है:—“गुरु धर्मोद्भवपावनमभिनन्दित-कृष्णार्जुनगुणोपेतं। भीमपराक्रमसारं भारतमिव भरत तव चरितम्॥” इसका 'अभिनन्दित कृष्णार्जुनगुणोपेतम्' विशेषण निश्चय से कृष्णराज को लक्ष्य करके ही लिखा गया है।

उत्तरपुराण के अन्त में ग्रन्थ के समाप्त होने का समय संवत् ६०६, आसाढ़ सुदी १०, क्रोधनसंवत्सर लिखा है। क्रोधनसंवत्सर से ६ वर्ष पहले सिद्धार्थसंवत्सर आता है, अतः आदिपुराण की रचना का समय संवत् ६०० होना चाहिए। दक्षिण में शक संवत् का ही प्रचार अधिक रहा है, अतएव उक्त ६०० और ६०६ को शक संवत् ही मानना चाहिए।

उत्तरपुराण की प्रशस्ति से मालूम होता है कि उक्त ग्रन्थ मान्यखेड नगर में बनाया गया था, जो इस समय मालखेड नाम से प्रसिद्ध है और निजाम के राज्य में है। उत्तरपुराण के ५० वें परिच्छेद के प्रारंभ में लिखा है:—

दीनानाथधनं सदाबहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनम्,

मान्याखेटपुरं पुरंदरपुरीलीलाहरं सुन्दरम्।

धारानाथनरेन्द्रकोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियम्,

केदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्री पुष्पदन्तः कविः॥

इससे मालूम होता है, शक संवत् ६०० और ६०६ के बीच में किसी समय धारानगरी के किसी राजा ने इस बड़े भारी वैभवशाली नगर को बरबाद किया था।

पुष्पदन्तने अपना महापुराण पूर्वोक्त शुभतुंग या कृष्णराज के महामात्य भरत के आग्रह से और यशोधर चरित भरतमन्त्री के पुत्र राणराज या राणराज के लिए कर्णाभरणस्वरूप बनाया है। राणराज भी अपने पिता के सदृश वल्लभनरेन्द्र या कृष्णराज का महामात्य हो गया था। भरत और राणराज की पुष्पदन्तने बहुत ही प्रशंसा की है और उन के लोकोत्तर गुणों का वर्णन किया है। महापुराण के सब मिलाकर १०२ परिच्छेद हैं, जिन में से कोई ४० परिच्छेदों के प्रारंभ में पुष्पदन्त ने भरतमन्त्री की प्रशंसा के सूचक सुन्दर संस्कृत पद्य दिये हैं जिन्हें हमने इस लेख के अन्त में उद्धृत कर दिया है। उन्हें पढ़ने से पाठकों का भरत की महिमा का बहुत कुछ परिचय हो जायगा। इसी तरह यशोधर चरित के चार परिच्छेदों में राणराज की प्रशंसा के जो पद्य हैं, वे भी उद्धृत कर दिये गये हैं।

उक्त प्रशस्ति-पद्यों के सिवाय पुष्पदन्तने आदि और उत्तरपुराण की उत्थानिकाओं में भरत-मन्त्री को निःशेष कलाविज्ञानकुसल, प्राकृतकविकाव्यरसावलुब्ध, अमत्सर, सत्यप्रतिज्ञ, योद्धा परस्त्रीपराङ्मुख, त्यागभोगभावाद्भूमशक्तियुक्त, कविकल्पवृत्त आदि अनेक विशेषण दिये हैं।

यशोधरचरित में भरत के पुत्र नन्न का गोत्र कौण्डिन्य बतलाया है। अतः संभवतः ये ब्राह्मण ही होंगे; परन्तु जैनधर्म के प्रगाढ़ भक्त थे। भरत के पिता का नाम ऐयण या अण्णया और माता का श्रीदेवी था। उन के सात पुत्र थे—१ देवल, २ भोगल, ३ गण्ण, ४ सोहण, ५ गुणवर्म, ६ दंगइया, और ७ संतइया। इन में तीसरा पुत्र गण्ण था, और भरत के बाद, इसी ने महामात्य या प्रधान-मन्त्री के पद को सुशोभित किया था। आदिपुराण के ३४ वें परिच्छेद के प्रारंभ में नीचे लिखा हुआ एक संस्कृत पद्य दिया है:—

तीव्रापहिवसेषु बन्धुरहितेनैकेन तेजस्विना

सन्तानक्रमतो गतापि हि रमाऽऽकृष्टा प्रभोः सेवया ।

यस्याचारपदं वदन्ति कवयः सौजन्यसत्यास्पदं

सोऽयं श्रीभरतो जयत्यनुपमः काले कलौ साम्प्रतम् ॥

अर्थात् बड़ी ही विपत्ति के दिनों में जिस अकेले और बन्धुरहित तेजस्वी ने सन्तानक्रम से चली गई हुई भी लक्ष्मी को अपने प्रभु की सेवा से फिर आकृष्ट कर ली और कविगण जिस के चरित्र को सौजन्य और सत्य का स्थान बतलाते हैं, वह भरत इस कलिकाल में अपनी जोड़ नहीं रखता ।

इससे जान पड़ता है कि भरत के पूर्वजों के हाथ से उक्त मंत्रीपद चला गया था और उसे भरत ने ही अपनी योग्यता से फिर से प्राप्त किया था । अपनी पूर्ववस्था में उन्होंने बड़ी विपत्ति भोगी थी और उस समय उन का कोई बन्धु या सहायक नहीं था ।

यशोधरचरित की रचना महापुराण के कितने समय बाद हुई, इस के जानने का कोई साधन नहीं है । यशोधरचरित में समय सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं है; परन्तु यह निश्चय है कि उस समय राजसिंहासन को बल्लभनरन्द या कृष्णराज ही सुशोभित करते थे । हाँ, मंत्री का पद भरत के पुत्र राणण को मिल गया था । राणण के उस समय कई पुत्र भी मौजूद थे जिन को यशोधरचरित्र के दूसरे परिच्छेद के प्रारंभ में आशीर्वाद दिया गया है । मालूम नहीं उस समय भरत जीते थे या नहीं । महापुराण जिस समय बनाया गया है उस समय पुष्पदन्त—भरत के ही घर रहते थे—“ देवीसुअ सुदणिहि तेण हउं णिलप तुहारप अच्छमि । ” ६७ वें परिच्छेद के प्रारंभ में कहा है:—

इह पठितमुदारं वाचकैर्गीयमानं इह लिखितमजग्नं लेखकैश्चरुकाव्यम् ।

गतवति कविमित्रे मित्रतां पुष्पदन्ते भरत तव गृहेऽस्मिन्भाति विद्याविनोदः ॥

इस से भी आभास मिलता है कि कविराज भरत के ही गृह में रहते थे और उन का काव्य वहीं पढ़ा, गाया और लिखा जाता था ।

इस के बाद यशोधरचरित जब लिखा गया है, तब वे राणण के ही घर रहते थे—“ राणणहु मंदिरणिवसंतु संतु, आहिमाणमेरु कविपुण्यंतु । ” परन्तु इसी ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि गन्धर्व (नगर ?) में कन्हड़ (केशव) के पुत्र ने पूर्वभवों का वर्णन स्थिर मन होकर किया—“ गंधर्वे कण्हडणंदणेण ” इत्यादि । तब क्या यह गन्धर्व नगर कोई दूसरा स्थान है ? संभव है, यह मान्यखेटका ही दूसरा नाम हो अथवा कोई दूसरा स्थान हो जहाँ कुछ समय टिककर कविने ग्रन्थ का उक्त अंश लिखा हो । यह भी संभव है कि राणण के महल का ही नाम गन्धर्व या गन्धर्वभवन हो ।

यशोधरचरित जिस समय समाप्त हुआ है उस समय कोई बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा था जिस का वर्णन कविने इन शब्दों में किया है—“ जगह जगह मनुष्यों की खोपाड़ियाँ और ठठरियाँ पड़ी थीं, रंक ही रंक दिखलाई पड़ते थे । बड़ा भारी दुष्काल था । ऐसे समय में भी राणणने मुझे रहने को अच्छा स्थान, खाने को सरस आहार, पहिने को स्वच्छ वस्त्र देकर उपकृत किया । ” जान पड़ता है यह घटना उस समय की होगी जब धारानरेशने मान्यखेट को लूट कर बरबाद कर दिया था । ऐसी सैनिक लूटों के बाद अक्सर दुर्भिक्ष पड़ा करते हैं ।

महापुराण में कविने नीचे लिखे ग्रन्थकारों और ग्रन्थों का उल्लेख किया है । कवि के समय निरूपण में इन नामों से बहुत सहायता मिल सकती है—

१ अकलंक, २ कपिल, ३ कण्वार या कण्वद, ४ द्विज (ब्राह्मण), ५ सुगत (बौद्ध), ६ पुरन्दर (चार्वाक), ७ दत्तिल, ८ विशाख, ९ लुद्धाचार्य, १० भरत (नाट्य शास्त्र कर्त्ता), ११ पतंजलि (व्याकरण भाष्यकार), १२ इतिहासपुराण, १३ व्यास, १४ कालिदास, १५ चतुर्मुख स्वयंभू, १६ श्रीहर्ष, १७ द्रोण, १८ कवि ईशान बाण, १९ धवल जय धवल सिद्धान्त, २० रुद्रट, २१ न्यासकार, और २२ जसचिन्ह (प्राकृत लक्षण कर्त्ता), २३ जिनसेन, २४ वीरसेन ।

यशोधर चरित के अन्त में केवल एक ही ग्रन्थकार कवि ' वच्छुराय ' (वत्सराज) का उल्लेख किया गया है जिस के कथासूत्र के आधार पर उक्त चरित की रचना की गई है—
“ महु दोसु ण दिज्जइ पुंवे कइइ कइवच्छुराय तं सुत्तु लइइ ” यह तो कहने की आवश्यकता नहीं कि ये वच्छुराय कोई जैनकवि ही थे । क्योंकि यशोधर की कथा जैनसाहित्य की ही चीज है ।

उत्तरपुराण के अन्त में महावीर भगवान् के निर्वाण के बाद की गुरुपरम्परा दी गई है । उसमें लोहाचार्य तक की परम्परा त्रिलोकप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, इन्द्र-नन्दिकृत श्रुतावतार के ही समान है । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में जहां जसबाहु नाम है, वहां इसमें भद्रबाहु है । एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि इसमें गोवर्धन के बाद भद्रबाहु का नाम ही नहीं है, साथ उसके बदले कोई दूसरा नाम भी नहीं दिया है । इतिहासज्ञों के लिए यह बात खास ध्यान देने योग्य है । सब के बाद इसमें जिनसेन और वीरसेन का नाम दिया हुआ है, जो आचारांग के एकदेश के ज्ञाता थे । जान पड़ता है ये जिनसेन संस्कृत आदिपुराण के कर्त्ता से भिन्न हैं ।

आदिपुराण (पुष्पदन्तकृत) के पांचवे परिच्छेद में नीचे लिखे देशों के नाम दिये हैं जिन्हें भगवान् ऋषभदेव ने बसाया था—

पल्लव, सैन्धव (सिन्ध), कौकण, कौशल, टक्क, आभीर, कीर, खस, केरल, अंग, कर्लिग, बंग, जालंधर, वत्स, यवन, कुरु, गुर्जर, बर्बर, द्रविड, गौड, कर्णाट, वराडिच (वैराट?), पारस, पारियात्र, पुष्पाट, सूर, सोरठ, विदेह, लाड, कोंग, वैंगि, मालव, पांचाल, मगध, भट्ट, भोट (भूटान), नेपाल, ओण्डू, पौण्डू, हरि, कुरु, मंगल ।

पुष्पदन्त के बनाये हुए दो ग्रन्थ हमें प्राप्त हुए हैं, एक तिसट्टिमहापुरिसगुणालंकार जिस का दूसरा नाम महापुराण है और जिसके आदिपुराण और उत्तरपुराण ये दो भाग हैं । इसकी श्लोकसंख्या १३ हजार के लगभग है और इसमें सब मिलाकर १०२ परिच्छेद हैं । आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का और उत्तरपुराण में शेष २३ तीर्थंकरों का और अन्य शलाका-पुरुषों का चरित्र है । उत्तरपुराण में पद्मपुराण और हरिवंशपुराण भी शामिल हैं और ये पृथक् रूप में भी अनेक पुस्तकभण्डारों में मिलते हैं । पुष्पदन्त का दूसरा ग्रन्थ यशोधर चरित है जिस के चार परिच्छेद हैं और छोटा है । इसमें यशोधर नामक राजा का चरित्र वर्णित है जो कोई पुराण पुरुष था ।

उक्त दो ग्रन्थों के सिवाय नागकुमार चरित नाम का एक ग्रन्थ है जो कारंजा (बरार) के पुस्तकभण्डार में है और जिस के प्राप्त करने के लिए हम प्रयत्न कर रहे हैं ।

१ यह एक जैन कवि है । इस के बनाये हुए दो ग्रन्थ हमें प्राप्त हुए हैं—' पउमचरिय ' या रामायण जिसके पिछले कुछ सर्ग उस के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभुदेवने पूर्ण किए हैं और दूसरा हरिवंशपुराण जिस का उद्धार विक्रम की १६ वां शताब्दि के एक दूसरे विद्वान्ने किया है । शायद इसका अधिकांश नष्ट हो गया था । ये दोनों ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में ही हैं । इनका विस्तृत परिचय शीघ्र ही दिया जायगा ।

हमें सब से पहले बंबई के सुप्रसिद्ध सठे सुखानन्दजी की कृपा से पुष्पदन्त का आदिपुराण देखने को मिला और उसी को देखकर हमें इस कवि का परिचय लिखने का उत्साह हुआ। सेठजी इस ग्रन्थ को फतेहपुर (जयपुर) के सरस्वतीभण्डार से लाये थे। उक्त सरस्वतीभण्डार का यह ८६ वें नम्बर का ग्रन्थ है और बहुत ही शुद्ध है। उसमें कहीं कहीं टिप्पणी भी दी है, वि० संवत् १५२८ का लिखा हुआ है उसमें प्रति करानेवाले की एक विस्तृत प्रशस्ति दी हुई है जो उपयोगी समझ कर इस लेख के परिशिष्ट में दे दी गई है।

इस ग्रन्थ की दो प्रतियां हमें पूने के भाण्डारकर औरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट में मिलीं जिनमें से एक वि० सं० १६२५ की लिखी हुई है* और दूसरी वि० सं० १८८३ की लिखी हुई है×। इस ग्रन्थ का एक टिप्पण भी हमें उक्त संस्था में मिला जो प्रभाचन्द्र कृत है और जिसकी श्लोकसंख्या १६५० है*। इसमें प्रति लिखने का और टिप्पणकार का समय आदि नहीं दिया है।

इसके बाद उक्त इन्स्टि० में हमें उत्तरपुराण की भी एक शुद्धप्रति मिल गई जो बहुत ही शुद्ध है और सं० १६३० की लिखी हुई है। इस पर यत्र तत्र टिप्पणियां भी दी हुई हैं×।

यशोधर चरित की एक प्रति हमें बंबई के तेरहपन्थी मन्दिर के पुस्तकभण्डार से प्राप्त हुई जो बहुत ही पुरानी है अर्थात् १३६० की लिखी हुई है और प्रायः शुद्ध है, और दूसरी भाण्डारकर इन्स्टि० से, जो वि० संवत् १६१५ की लिखी हुई है†।

इस इन्स्टिट्यूट में हरिवंशपुराण की भी एक बहुत ही शुद्ध, टिप्पणयुक्त, और प्राचीन प्रति है, मिलान करने से मालूम हुआ कि यह उत्तरपुराण का ही एक अंश है। :

पुष्पदन्त के ग्रन्थ पूर्वकाल में बहुत प्रसिद्ध रहे हैं और इस कारण उनकी प्रतियां अनेक भण्डारों में मिलती हैं। उन पर टिप्पणपंजिकायें और टिप्पणग्रन्थ भी लिखे गये हैं और तलाश करने से अब भी प्राप्त हो सकते हैं। जयपुर के पाटोदी के मन्दिर में उत्तरपुराण का एक टिप्पण ग्रन्थ है जिसके कर्त्ता श्रीचन्द्र (?) मुनि मालूम होते हैं और जो विक्रम संवत् १०८० में भोजदेव के राज्य में बनाया गया है। जयपुर के बाबा दुलीचन्दजी के भण्डार में पुष्पदन्त के प्रायः सभी ग्रन्थों की पंजिकायें हैं; आगरे के मोतीकटर के मन्दिर में उत्तरपुराण की पंजिका है। प्रयत्न करने पर भी हम इन्हें प्राप्त नहीं कर सके।

इस समय हम पुष्पदन्त के नागकुमार चरित और उनके ग्रन्थों की पंजिकाओं को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनके मिल जाने पर आगामी अंक में पुष्पदन्त का समय निर्णय किया जायगा और उनके ग्रन्थों में जिन जिन व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है उन सब के समय पर विचार करके निश्चित किया जायगा कि वास्तव में पुष्पदन्त के ग्रन्थ कब बने हैं।

आगामी अंक में पुष्पदन्त की भाषा और उनके कवित्व की भी आलोचना करने का विचार है।

परिशिष्ट में पुष्पदन्त के ग्रन्थों के वे सब अंश दे दिये गये हैं जो महत्वपूर्ण हैं और जिनके आधार से यह लेख लिखा गया है। अधिक प्रयोजनीय अंशों का अनुवाद भी टिप्पणी में दे दिया है।

इस लेख के तैयार करने में श्रीमान् मुनिमहोदय जिनावजयजी से बहुत अधिक सहायता मिली है। इसकी बहुत कुछ सामग्री भी उन्हीं की कृपा से प्राप्त हुई है, अतएव मैं उनका बहुत ही कृतज्ञ हूँ।

* नं. ११३९ आफ १८९१-९५। × नं. १०५० आफ १८८७-९१।

* नं. ५६३ आफ १८७५-७६। × नं. ११०६ आफ १८८४-८७। † नं. ११६३ आफ १८९१-९५।
÷ ११३५ आफ १८८४-८७। ० देखो जैनमित्र, गुरुवार, आश्विन सुदी ५ वीर सं. २४४७ में श्रीयुत पं. पद्म-
लालजी वाक्लावाल का “सं. वि. १०८० के प्रभाचन्द्र” शीर्षक लेख।

परिशिष्ट नं० १

(आदिपुराण के प्रारंभ का कुछ अंश ।)

ओं नमो वीतरागाय ।

सिद्धिवद्भूमणरंजण परमानिरंजण भुञ्जणकमलसरणेश्वर ।
 पणवेवि विग्घविणासण निरुवमसासण रिसहणाहपरमेस्वर ॥ भुवकम् ॥

× × ×

तं कहमि पुराण पसिद्धणामु, सिद्धत्थवरिसे भुवणाहिरामु ।
 उवद्धज्जुडु भूमंगभीसु, तोडिप्पिणु चोडहो तणउं सीसु ॥ १ ॥
 भुवणैक्करामुं रायाहिराउ, जहिं अच्चइ तुडिगुं महाणुभाउ ।
 तं (बं?) दीण दिणण घणकणयपयरु, महिपरिभमंत मेवाडिणयरु ॥ २ ॥
 अवहेरिय खलयण गुणमहंतु, दियहेहिं पराइउ पुप्फयंतु ।
 दुग्गमदीहिरपण्येणरीणुं, एव इंदु जेम देहेण खीणु ॥ ३ ॥
 तरुकुसुमरेणुरंजियसमीर, मायंदगुंछु गुंदलियकीर ।
 गंदणवण किर वोसमइ जाम, तहिं विणिण पुरिस संपत्त ताम ॥ ४ ॥
 पणवेप्पिणु तेहिं पवुत्त पव, भो खराडं गलिय पावावलेव ।
 परिभमिरभमररवगुमुगुमंत, किं किर णिवसहि णिउजणवणंत ॥ ५ ॥
 करिसरबहिरिय दिक्कवाले, पइसरहि ण किं पुरवरविसाले ।
 तं सुणेवि भणइं अहिमाणमेरु, वरि खज्जउ गिरकंदरकसेरु ॥ ६ ॥
 णउ दुज्जणभउंहा वंकियाइं, दसिंतु कलुसभावंकियाइं ॥

घत्ता ।

वरु णारवरु धवलच्छिह, होउ मकुच्छिह, मरउ सोणिमुहणिग्गमे ।
 खलकुच्छियपहुवयणइं, भिउडियणयणइं, म शिहालउ सूरग्गमे ॥ ७ ॥
 चमराणिलउड्ढावियगुणापं, अहिसेयधोयसुयणत्तणापं ।

भावार्थ—इस प्रसिद्ध पुराणको मैं सिद्धार्थ संवत्सर में कहता हूं जब राजाधिराज भुवनैकराम तुडिगुने चोड राजा का सुन्दर जटायुक्त और भ्रुकुटि भंगिसे भीषण मस्तक काटा ॥ १ ॥ उन्होंने ने दीन दुखियों को प्रचुर धन दिया । इसी समय पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए और खलजनों द्वारा अपमानित हुए पुष्पदन्त कवि मेवाडि या मेलाटी नगरी में आये । दुर्गम और लम्बा रास्ता तय करते करते उनका शरीर नवीन चन्द्रमा के समान क्षीण हो गया था । २-३ ॥ वे नन्दन वन नामक उद्यान में विश्राम ले रहे थे जहां का वायु पुष्पों के पराग से महक रहा था और आम्रवृक्षों पर श्रुकों के झुण्ड फ्रीड़ा कर रहे थे । इतने में ही वहां दो पुरुष पहुंचे ॥ ४ ॥ उन्होंने प्रणाम करके कहा कि हे निष्पाप खंडकवि, आप इस निर्जन वन में जो भ्रमरों के गुंजार से गूंज रहा है क्यों ठहरे हैं ? हाथियों के शब्दों से दिशाओं को बाधिर करनेवाले इस विशाल नगर में क्यों नहीं चलते ? यह सुन कर अभिमानमेरु पुष्पदन्तने कहा कि गिरिकन्दराओं के जंगली फल खा लेना अच्छा, परन्तु दुर्जनों की कलुषित टेढ़ी भोंहें देखना अच्छा नहीं ॥ ५-६ ॥ उज्ज्वल नेत्रोंवाली माता की कूँख से जन्म लेते ही मर जाना अच्छा परन्तु प्रभु के दुष्ट वचन और भ्रुकुटित नयन सवेरे सवेरे देखना अच्छा नहीं ॥ ७ ॥ वह लक्ष्मी किस मतलब की जिसने दुरते हुए चैवरों की हवा से सारे गुणों को उड़ा दिया हो, अभिषेक के जल

१ सिद्धार्थ संवत्सरे । २ विरुदः । ३ कृष्णराजः । ४ दुर्गमदीर्घतराकाशमार्गेणागतः । ५ मन्दतेजः । ६ मिलित
 ७ पुष्पदन्तः । ८ हस्तिशब्दात् । ९ दिक्चक्रवलये ।

अविवेयपं दपुत्तालियापं, मोहंधयापं मारणसीलयापं ॥ ८ ॥
 सत्तंगरज्जभरमारियापं, पिउपुत्तरमणरसयारियापं ।
 विससहजम्मपं जडरसियापं, किं लच्छिप विउसविरसियापं ॥ ९ ॥
 संपइ जणु गीरसु गिण्विसेसु, गुणवंतउ जहिं सुरगुरुवि देसु ।
 तहिं अम्हहं लइ काणणु जे सरणु, अहिमाणं सहुं वरि होउ मरण ॥ १० ॥
 अम्मइय इंदराणहिं तेहिं, आयाणिय तं पइसिय मुहेहिं ।
 गुरुविणयपणयपणवियसिरोहिं, पडिषयणु दिणु गायरणरोहिं ॥ ११ ॥
 घत्ता ।

जणमणतिमिरोसारण, मयतरुवारण, गियकुलगयणदिवायर ।
 भो भो केसवतगुरुह, गवसररुहमुह, कव्वरयणरयणायर ॥ १२ ॥
 बंभंडमंडवारुदकिंत्ति, अणवरय रइय जिणणाहभत्ति ।
 सुहंतुंगेदेवकमकमलभसल, गीसेसकलाविणणाणकुसल ॥ १३ ॥
 पाययकइकव रसावलुधु, संपीय सरासइसुराहिदुधु ।
 कमलच्छु अमच्छु सच्चसंधु, रणभरधुरधरणुग्घिदुधु ॥ १४ ॥
 सविलासविलासिणिहिय यणु, सुपासिद्ध महाकइकामधेणु ।
 काणीणदीणपरिपूरियासु, जसपसरपसाहियदसदिसासु ॥ १५ ॥
 पररमणिपरम्मुह सुद्धसीलु, उणययमइ सुयणुद्धरणलीलु ।
 गुरुयणपयपणवियउत्तमंणु, सिरिदेविअंगवग्घुभंगंणु ॥ १६ ॥
 अणणइयतणं तणुरुहु पसत्थु, हत्थिवदाणोस्सियदीहहत्थु ।
 महमत्तवं सधयवडु गहीरु, लक्खणलक्खंकिंय वरसरीरु ॥ १७ ॥

से सुजनता को धो डाला हो, अविवेक से दर्प को बढ़ाया हो, जो मोहसे अन्धी हो, मारणशील हो, सप्तांग राज्य के भार से लदी हुई हो, पिता और पुत्र दोनों में रमण करनेवाली (घृणितव्याभिचारिणी) हो, विषके साथ जिसका जन्म हुआ हो, जो जड़ (या जल) में रक्त हो, और जो विद्वानों से विरक्त रहती हो ॥ ८-९ ॥

इस समय लोग नीरस और विशेषताराहित हो गये हैं । अब तो गुणवन्त ब्रह्मसृष्टि का भी द्वेष किया जाता है । इसी लिए मैंने इस वन का शरण लिया है । मैंने सोचा है कि इस तरह अभिमान के साथ मर जाना भी अच्छा है ॥ १० ॥

कवि के ये वचन सुनकर उन दो आगत नागरिकोंने—अम्मइय (?) और इन्द्राजने—प्रसन्न मुख से और बढ़े विनय से मस्तक झुकाकर कहा—“ हे मनुष्यों के हृदयान्धकार को दूर करनेवाले, नवीन कमलसदृश मुखवाले, मद-रहित, अपने कुलरूपी आकाश के चन्द्रमा, काव्यरत्नरत्नाकर, और केशव के पुत्र पुष्पदन्तजी, क्या आपने भरत (मंत्री) का नाम नहीं सुना ? जिस की कीर्ति ब्रम्हाण्डरूपमण्डपपर आरूढ हो रही है, जो निरन्तर जिन भगवान की भक्ति में अनुरक्त रहता है, शुभतुंगदेव (राजा और इस नाम का मन्दिर) के चरणकमलों का भ्रमर है, सारी कला और विद्याओं में कुशल है, प्राकृत कवियों के काव्यरसपर लुब्ध रहता है और जिसने सरस्वतीरूप सुरभि का खूब दूध पिया है, लक्ष्मी जिसे चाहती है, जो मत्सर रहित है, सत्यप्रतिष्ठ है, युद्धों के बोझ को ढोते ढोते जिस के कन्धे बिस गये हैं, जो विलासवती सुन्दरियों के हृदय का चुरानेवाला है, बड़े बड़े प्रासिद्ध महाकवियों के लिए कामधेनु है, दीन दुखियाओं की आशाओं को पूरा करनेवाला है, जिस के यश ने दशों दिशाओं को जीत लिया है, जो परस्त्रियों की ओर कभी नजर नहीं उठाता, शुद्ध शीलयुक्त है, जिस की मति उन्नत है, लीला मात्र से जो सुजनों का उद्धार कर देता है, गुरुजनों के चरणोंपर जिस का मस्तक सदैव झुका रहता है, जो श्रीदेवी माता और अण्णय पिता का पुत्र है, जिस के हाथ हाथी के समान दान (या मदजल) से आर्द्र रहते हैं, जो महामाल्यवशका ध्वजपट है, गंभीर है, जिस का शरीर शुभ लक्षणों से युक्त है और जो दुर्व्यसनरूपी सिंहों के लिए जो अष्टापद के समान है ॥ ११-१७ ॥ आइए, उसके नेत्रों

दुव्वसण सीहसंघायसरहु, एवि याणहि किं रामेण भरहु ।

घत्ता ।

आउ जाहुंतहो मंदिरु रायणाणंदिरु सुकइकइत्तणु जाणइं ।

सो गुणगणतत्तिहउ तिहुअणिभल्लउ शिच्छउ पइं सम्माणइं ॥ १८ ॥

जो विहिणा शिम्मिउं कव्वपिडु, तं शिसुणेवि सो संचलिउ खंडु ।

आवंतु दिहु भरहेण केम, वाईसरिसरिकल्लोल जेम ॥ १९ ॥

पुण तासु तेण विरइउ पहाणु, घरु आयहो अब्भागयविहाणु ।

संभासणु पियवयणेहि रम्मु, शिम्मुकडंभु एं परमधम्मु ॥ २० ॥

तुहुं आयउ एं गुणमणि शिहाणु, तुहुं आयउ एं पंकयहो भाणु ।

पुण पम भणेप्पिणु मणहराई, पइस्सीणीणीतणु सुहयराई ॥ २१ ॥

वर एहाणविलेवणभूसणाई, दिणणइं देवंगइणिवसणाई ।

अच्चंत रसालइं भोयणाई, गलियाई जाम कइवय दिणाई ॥ २२ ॥

देवीसुपण कइ भणिउं ताम, भो पुप्फयंत ससिलिहियणाम ।

णियसिरिविसेसणिज्जियसुरिंदु, गिरिधीरु वीरु भइरव णरिंदु ॥ २३ ॥

पइ मणिणउं वरिणउं वीरराउ, उप्पणणउं जो मिच्छत्तभाउ ।

पच्छित्तु तासु जइ करहि अज्ज, ता घडइ तुज्जु परलोयकज्जु ॥ २४ ॥

तुहुं देउ कोवि भव्वयणबंधु, पुरुपवचरियभारस्स खंडु ।

अब्भत्थिओसि देवेहि तेम, णित्विग्घे लहु णित्वहइ जेम ॥ २५ ॥

घत्ता ।

अइल्लियणं गंभीरणं सालंकारणं वायणं ता किं किज्जइ ।

जइ कुसुमसरवियारउ अरुहु भडारउ सम्भावें ए शुणिज्जइ ॥ २६ ॥

को आनन्द देनेवाले मन्दिर में चालिए । वह सुकवियों के कवित्वका मर्मज्ञ है, गुणगणों से तृप्त है और तीनों भुवनों के लिए भला है, वह निश्चय से आप का सम्मान करेगा ॥ १८ ॥

यह सुन कर वह खण्ड कवि—जिस के शरीर को मानों विधाताने काव्य का मूर्तिमान पिण्ड ही बनाया है—उस ओर को चल दिया । उस समय भरत मंत्रीने उस को इस तरह आते देखा जिस तरह सरस्वतीरूपी सरिता की एक तरंग ही आ रही है ॥ १९ ॥ तब उस ने अभ्यागत विधान के अनुसार उस का सब प्रकार से अतिथिसत्कार किया और बहुत ही प्रिय, दंभरहित धर्मवचनों से संभाषण किया ॥ २० ॥ कहा—हे गुणमणिनिधान, आप भले पधारे, कमल के लिए जैसे सूर्य प्रसन्नताका कारण है, उसी तरह आप मेरे लिए हैं । ऐसा कहकर उस के मार्ग भ्रम से क्षीण हुए शरीर को सुख देनेवाले मनोहर ज्ञान, विलेपन और आभूषणों से उस का सत्कार किया और देवों के निवास करने योग्य स्थान में ठहराया । इसके बाद अत्यन्त रसाल भोजन से उसे तृप्त किया । इस तरह कुछ दिन बीत गये ॥ २१—२२ ॥ देवी सुत (भरत) ने कहा—हे श्लाघनीय नामधारी पुष्पदन्त, भैरव नरेन्द्र (कृष्णराज) अपने वैभव से घुरेन्द्र को भी जीतनेवाले और पर्वत के समान धीर वीर हैं ॥ २३ ॥ तुमने कांची नरेश वीरराज शङ्कर (?) का वर्णन किया है, और उसे माना है अतः इस से जो मिथ्यात्वभाव उत्पन्न हुआ है उस का यदि तुम आज प्रायश्चित्त कर डालो तो इस से तुम्हारा परलोक का कार्य बँन जाय ॥ २४ ॥ भव्यजनों के लिए बन्धुतुल्य तुम्हें पुरुदेव (आदिनाथ) चरित्र की रचना करनी चाहिए । मैं तुम्हारी अभ्यर्थना करता हूँ । इस काव्यरचना से तुम निर्बिघ्नता पूर्वक निर्वृति प्राप्त करोगे ॥ २५ ॥ वह अतिशय ललित, गंभीर और अलंकारयुक्त रचना भी किस काम की जिस में कामबाणों को व्यर्थ करनेवाले अर्हत भटारक की सद्भावपूर्वक स्तुति न की गई हो ? ॥ २६ ॥

सियदंतपंतिधवलीकयासु, ता जंपइ वरवायाविलासु ।
 भो देवीणंदण जयसिरीह, किं किज्जइ कव्वु सुपुरिससीह ॥ २७ ॥
 गोवज्जिपहिं णं घणदिणोहिं, सुरवरचावेहिं वणिग्गुणोहिं ।
 मइलियच्चित्तिहिं णं जरघरेहिं, छिदणणेसिहिं णं विसहरेहिं ॥ २८ ॥
 जडवाइपहिं णं गयरसेहिं, दोसाथरेहिं णं रक्खसेहिं ।
 आचक्खिय परपुंढीपलेहिं, वर कहं णिदिज्जइ हयखलेहिं ॥ २९ ॥
 जो वाल बुडु संतोसहेउ, रामाहिरामु लक्खणसमेउ ।
 जो सुम्मइ कईवइ विहियेसेउ, तासु वि दुज्जणु किं परे म होउ ॥ ३० ॥
 घत्ता ।

णउ महु बुद्धिपरिग्गहु, णउ सुयसंगहु, णउ कासुवि केरउ बलु ।
 मणु किहं करमि कहत्तणु, ण लहमि कित्तणु, जणु जे पिसुणसयसंकुलु ॥ ३१ ॥
 तं णिसुणेवि भरहं वुत्तु ताव, भो कहकुलतिलय विमुक्कताव ।
 सिमिसिमिसिमंतकिमि भरियरंधु, मेल्लेवि कलेवरु कुणिमगंधु ॥ ३२ ॥
 ववगयविषेउ मसिकसणकाउ, सुंदरपपसे किं रमइं काउ ।
 णिक्कारणु दारुणु बद्धरोसु, दुज्जणु ससहावे लेइ दोसु ॥ ३३ ॥
 हयतिमिरणियरु धरकरणिहाणु, ण सुहाइ उल्लयहो उइउ भाणु ।
 जइ ता किं सो मंडियसराहं, णउ रुच्चइ वियसियसिरिहं ॥ ३४ ॥
 को गणइं पिसुणु अविसहियतेउ, भुक्कउ छुणयंदहो सारमेउ ।
 जिण चलणकमल भत्तिहणण, ता जंपिउ कव्वपिसल्लणण ॥ ३५ ॥
 घत्ता ।

णउ हउं होमि वियक्खणु, ण मुणमि लक्खणु, छुंउ देसि णवि याणमि ।

तब उस वाणी विलास कवि ने अपनी श्वेत दन्तावली से दिशाओं को उज्ज्वल करते कहा—हे देवीनन्दन (भरत) हे सुपुरुषसिंह, मैं काव्य क्या कहूँ ? श्रेष्ठ कवियों की खलजन निन्दा करते हैं । वे मेघों से घिरे हुए दिन के समान गोवर्जित (प्रकाशरहित और वाणीरहित), इन्द्रधनुष के समान निर्गुण, जीर्ण गृह के समान मलिनचित्त (चित्र), सर्प के समान छिद्रान्वेषी, गत रस के समान जडवादी, राक्षसों के समान दोषाय (दोषाचर और दोषाकर) और पीठ पीछे निन्दा करनेवाले होते हैं । कविपति प्रवरसेन के सेतुबन्ध (काव्य) की भी जब इन दुर्जनों ने निन्दा की तब फिर ओरों की तो बातही क्या है ? ॥ २९-३० ॥

फिर न तो मुझ में बुद्धि है, न शास्त्रज्ञान है और न और किसी का बल है, तब बतलाइए कि मैं कैसे काव्य-रचना करूँ ? मुझे इस कार्य में यश कैसे मिलेगा ? यह संसार दुर्जनों से भरा हुआ है ॥ ३१ ॥

यह सुनकर भरत ने कहा—हे कविकुलतिलक और हे विमुक्ताप, जिस में कीड़े बिलबिला रहे हैं और बहुत ही घृणित दुर्गन्ध निकल रही है, ऐसी लाशको छोड़ कर विवेकरहित काले कौए क्या और किसी सुन्दर स्थान में कीड़ा कर सकते हैं । अकारण ही आतिशय रुठ रहनेवाले दुर्जन स्वभाव से ही दोषों को ग्रहण करते हैं ॥ ३२-३३ ॥ उल्लुओं को यदि अन्धकार का नाश करनेवाला और तेजस्वी किरणोंवाला जगा हुआ सूर्य नहीं सुहाता तो क्या सरोवरों की शोभा बढ़ानेवाले विकसित बमलों को भी न सुहायेगा ? ॥ ३४ ॥ इन खलजनों की परवा कौन करता है ? हाथी के पीछे कुत्ते भौकते ही रहते हैं ।

यह सुनकर जिन भगवान के चरणकमलों की भक्ति में लीन रहनेवाले काव्यराक्षस (पुष्पदन्त) ने कहा ॥ ३५ ॥ आप का यह कथन ठीक है, परन्तु न तो मैं विचक्षण हूँ और न व्याकरण, छन्द आदि जानता

१ परपुंढिमांसैः परोक्षवादैश्च । २ बाला अंगदादयः; बुद्धा जांबवदादयः अन्यत्र श्रुतहीनाः श्रुताव्याश्च । ३ हनुमान । ४ कृतसमुद्रबन्धः अन्यत्र कृतसेतुबन्ध नाम काव्यं । ५ पद्मानां । ६ काव्यराक्षसेन । ७ कुक्कुरः ।

जा विरह्य जयवंदहिं आसिमुणिदहिं सा कह केम समाणमि ॥ ३६ ॥
 अकलंक कविर्ल कण्यर मयाई, दिय सुगय पुंरंदर एय सयाई ।
 दन्तिलविसाहि लुद्धारियाई, एउ गायई भरह वियारियाई ॥ ३७ ॥
 एउ पीयइ पायंजलिजलाई, अइहोस पुराणइ शिम्मलाई ।
 भावाहिउ भारह-भासि वासु, कोहलु कोमलगिरु कालिदासु ॥ ३८ ॥
 चउमुहुं सयंभु सिरिहैरिसु दोणु, गालोइउ कह ईसोणु वाणु ।
 एउ धाउ ए लिंगु ए गुणसमासु, एउ कम्म करणु किरिया विसेसु ॥ ३९ ॥
 एउ संधि ए कारउ पयसमसि, एउ जाणिय महं पक्कवि विहसि ।
 एउ वुज्झिउ आयम सहधामु, सिद्धंतु धवल जयधवल गामु ॥ ४० ॥
 पडुरुइउ जउ गिएणासयारु, परियंछिउ गालंकारसारु ।
 पिंगल पत्थारु समुहै पडिउ, ए कयाइ महारइ चित्ते चाडिउ ॥ ४१ ॥
 जैसइंधु सिंधु कल्लोलसित्तु, ए कलाकोसले हियवउ गिह्तिउ ।
 हउं वण्ण निरक्खरु कुक्खिमुक्खु, गारवेसैं हिंडमि चम्मरुक्खु ॥ ४२ ॥
 अइ दुग्गमु होइ महापुराणु, कुंडपण मवइ को जलाविहाणु ।
 अमरासुरगुरुयणमणहरोहिं, जं आसि कयउ मुणिएणहरोहिं ॥ ४३ ॥
 तं हउं कहमि भत्तीभरेण, किं एहे ए भमिज्जइ महुअरेण ।
 पडु विणउ पयासिउ सज्जणाहं, मुहे मसि कुच्चउ कउ दुज्जणाहं ॥ ४४ ॥

हूं, ऐसी दशा में जिस चरित को बड़े बड़े जगद्वन्द्य मुनियों ने रचा है उसे मैं कैसे बना सकूंगा ? ॥ ३६ ॥ मैं अकलंक (जैन दार्शनिक), कपिल (सांख्यकार), कणचर (कणाद) के मतों का ज्ञाता नहीं हूं, दिय (ब्राह्मण), सुगत (बौद्ध), पुरन्दर (चार्वाक), आदि सैकड़ों नयों को, दन्तिल, विशाख, लुब्ध (प्राकृतलक्षणकर्ता) आदि को नहीं जानता । भरत के नाट्यशास्त्र से मैं परिचित नहीं ॥ ३७ ॥ पतंजलि (भाष्यकार) के और इतिहास पुराणों के निर्मल जल को मैंने पिया नहीं, भावों के अधिकारी भारतभाषी व्यास, कोमलवाणीवाले कालिदास, चतुर्मुख स्वयंभु कवि, श्रीहर्ष, द्रोण, कवीश्वर बाण का अवलोकन नहीं किया । धातु, लिंग, गुण, समास, कर्म, करण, क्रिया-विशेषण, सन्धि, पदसमास, विभक्ति इन सब में से मैं कुछ भी नहीं जानता । आगम शब्दों के स्थानभूत धवल और जयधवल सिद्धान्त भी मैंने नहीं पढ़े ॥ ३८-४० ॥ चतुर रुद्रट का अलंकार शास्त्र भी मुझे परिज्ञात नहीं, पिंगल प्रस्तार आदि भी कभी मेरे चित्तपर नहीं चढ़े ॥ ४१ ॥ यशः चिन्हकवि के काव्यसिन्धु की कल्लोलों से मैं कभी सिक्त नहीं हुआ । कलाकौशल से भी मैं कोरा हूं । इस तरह मैं बेचारा निरक्षर मूर्ख हूं, मनुष्य के वेष में पशु के तुल्य घूमता फिरता हूं ॥ ४२ ॥ महापुराण बहुत ही दुर्गम है । समुद्र कहीं एक कूंडे में भरा जा सकता है ? फिर भी जिसे सुर असुरों के मनको हरनेवाले मुनि गणधरों ने कहा था, उसे अब मैं भक्ति भाववश करता हूं । भौरा छोटा होनेपर भी क्या विशाल आकाश में भ्रमण नहीं करता है ? अब मैं सज्जनों से यही विनती करता हूं कि आप दुर्जनों के मुँह पर स्याही की कूँची फेर दें ॥ ४४ ॥

८ सांख्यमते मूलकारः । ९ वैशेषिकमते मूलकारः । १० चार्वाकमते ग्रन्थकारः । ११ पाणिनिव्याकरणभाष्यं (पतंजलि) । १२ एकपुरुषाश्रित कथा । १३ भारतभाषी व्यास । १४ श्रीहर्ष । १५ कवि ईशानः बाणः । १६ परिज्ञातः । १७ प्राकृत लक्षणकर्ता ।

परिशिष्ट नं० २

(उत्तर पुराण के मंगलाचरण के बाद का अंश ।)

मणे जाणए किं पि अमखोज्जे, कहवयइ दिअहें केण विकज्जे ।
 णिविण्णउ छिउ जाम महाकइ, ता सिवणंतरि पत्त सरासई ॥ १ ॥
 भणइं भडारी सुहयईओहं, पणवइ अरुहं सुहयईमेहं ।
 इय णिसुखेवि विडेउउ कहवरु, सयलकलायकं णं छुण ससहरु ॥ २ ॥
 दिसउ णिहालइ किं पि ण पेच्छइ, जा विंभियमइ णियघरे अच्छइ ।
 ताम पैराइपण लयवंतै, मउल्लिय, करयलेण पणवंतै ॥ ३ ॥
 दस दिस पसरिय असलकईई, वरमईमत्तवंसणईचंदै ।
 छुणससिमंडल सणिसइ वयलै, खव कुवलयदलदीहरणयणै ॥ ४ ॥

घत्ता ।

खल संकुले काले कुसीलमइ धिणउ करेप्पिणु संधैरिय ।
 वचंचति विसुणणसुसुणणवहे जेणसरसइ उद्धरिय ॥ ५ ॥
 ईयणु दवियव्वतणुजापं, जयदुंदुहिसरगहिरिणियापं ।
 जिणवरसमयणिहेलैणखंमै, दुत्थियमित्तै ववगयडंमै ॥ ६ ॥
 परउवयोरहारणिव्वहणै, विउसविट्ठुर सयभय णिंमहणै ।
 ते ओहामिय पवरक्खईई, तेण विगेळ्वै मव्वै भरई ॥ ७ ॥
 वोल्लाविउ कइ कट्ठपिसल्लउ, किं तुहुं सच्चउ वण्णईल्लउ ।
 किं दीसहि विच्छायउ दुम्मणु, गंथकरणै किं ण कराहि णियमणु ॥ ८ ॥
 किं किउ काइं वि मइं अवरौहउ, अवरु कोवि किं वि रंसुम्माहउ ।

कुछ दिनों के बाद मन में कुछ बुरा मालूम हुआ । जब महाकवि निर्विण्ण हो उठा तब सरस्वती देवी ने स्वप्न में दर्शन दिया ॥ १ ॥ भट्टिका सरस्वती बोली कि पुण्यवृक्ष के लिए मेघतुल्य और जन्ममरणरूप रोगों के नाशक अरहंत भगवान को प्रणाम करो । यह सुनकर तत्काल ही सक्लकलाओं के आकर कविवर जाग उठे और चारों ओर देखने लगे परन्तु कुछ भी दिखलाई नहीं दिया । उन्हें बड़ा विस्मय हुआ । वे अपने घर ही थे कि इतने में नयवन्त भरत मंत्री प्रणाम करते हुए वहां आये, जिन का यश दशोंदिशाओं में फैल रहा है, जो श्रेष्ठ महामात्यवंशरूप आकाश के चन्द्रमा है, जिन का मुख चन्द्रमण्डल के समान और नेत्र नवीन कमलदलों के समान हैं, ॥ २-४ ॥ जिन्होंने इस खलजन संकुल काल में विनय करके शून्यपथ में जाती हुई सरस्वती को रोक रक्खा और उस का उद्धार किया ॥ ५ ॥ जो ऐयण पिता और देवी माता के पुत्र हैं, जो जिनशासनरूप महल के खंभ हैं, दुस्वितों के मित्र हैं, दंभरहित हैं, परोपकार के भार को उठानेवाले हैं, विद्वानों को कष्ट पहुँचानेवाले सैकड़ों भयों को दूर करनेवाले हैं, तेज के धाम हैं, गर्वरहित हैं और भव्य हैं ॥ ६-७ ॥ उन्होंने काव्यराक्षस पुष्पदन्त से कहा कि भैया, क्या तुम सबमुच ही पागल हो गये हो ? तुम उन्मना और छायाहीनसे क्यों दिखते हो ? प्रन्थरचना करने में तुम्हारा मन क्यों नहीं लगता ? ॥ ८ ॥ क्या मुझ से तुम्हारा

१ सरस्वती । ३ सुष्ठु इतो रुजां रोगाणामोषः संधातो येन स तं । ३ पुण्यतरुमेघं । ४ गतनिद्रो जागरितः । ५ आकार । ६ पश्यति । ७ भरतमंत्रिणेति सम्बन्धः श्रीपुष्पदन्तः आलापितः । ८ कन्दो मेघः । ९ महामात्र-महत्तर । १० चन्द्रेण ११ संवृता रक्षिताः सरस्वती । १२ ऐयण पिता देवी माता तयोः पुत्रेण भरतेन । १३ प्रासाद । १४ मयि पुष्पदन्ते उपकार-भावनिर्वाहकेन । १५ निर्मेथकेन । १६ रथेन विमानेन । १७ गर्व रहितेन । १८ कोमलालापे । १९ अपराधः । २० अन्यकाव्यकरणवांछः किं त्वं ।

भणु भणु भणियउं सयल पडिच्छैमि, हउ कयपंजलियर ओहच्छुभि^{२२} ॥ १६ ॥

घत्ता ।

अथिरेण असारें जीविणण, किं अप्पउ सम्मोहहिं ।

तुहु सिद्धिहें वाणीघेणुअहें, एवरसस्त्रीरु ए दोहहिं ॥ १० ॥

तं शिसुणेप्पिणु दर विहसतें भित्तमुहारविदु जोयंतें ।

कसणसरीरें सुखकुरुवें, मुखापविगग्भि संभूवें ॥ ११ ॥

कासव गोत्तें केसव पुत्तें, कह कुलतिलपं सरसयणिलपं ।

उत्तमैसत्तें, जिणापयभत्तें ॥ १२ ॥ (?)

पुप्फयंत कहणा पडिउत्तउ, भो भो भरह शिसुणि शित्तक्खुत्त ।

कलिमलमलिणु कालु विवरेरउं, शिग्घिणु शिग्घुणु दुरणयगारउ ॥ १३ ॥

जो जो दीसइ सो सो दुज्जणु, शिप्फलु गीरसु एं सुक्कउ वणु ।

राउ राउ एं संभूहें केरउ, अंत्ये पयट्टइ मणु ए महार उ ।

उज्जेउ जे वित्थरइ गिरारिउ, पकु वि पैंउ विरपवउ भारिउ ॥ १४ ॥

घत्ता ।

दोसेणें होउ तं एउ भणमि चोउज्ज अवक्रमणे थक्कउ ।

जगुपउ चडाविउ चौउजिह तिह गुणेण सहवंकउ ॥

जयवि तो वि जिणमुणगणु वरणमि, कि हं पइं अम्मत्थिउ अवगणमि ।

कोई अपराध बन पडा है अथवा और किसी रस का उमाह हुआ है अर्थात् कोई दूसरा काव्य बनाने की इच्छा हुई है ? बोलो, बोलो, मैं हाथ जोड़ कर तुम्हारे सामने खडा हूँ, तुम जो कुछ कहोगे मैं सब कुछ देने के लिए तैयार हूँ ॥ ९ ॥

इस अस्थिर और असार जीवन से तुम क्यों आप को सम्मोहित कर रहे हो ? तुम्हें वाणीरूप कामधेनु सिद्ध हो गई है, उस से तुम नवरसरूप दूध क्यों नहीं दोहते ? ॥ १० ॥

यह सुनकर मुसकराते हुए और अपने मित्र के मुखकमल की, ओर निहारते हुए कुशाशरीर, अतिशय कुरूप, मुग्धादेवी और केशव ब्राह्मण के पुत्र, काश्यपगोत्रीय, कविकुलतिलक, सरस्वतीनिलय, दृढव्रत और जिनपदभक्त पुष्पदन्त कवि ने प्रत्युत्तर दिया कि, हे भरत, यह निश्चय है कि इस कलिमलमलिन, निर्दय, निर्गुण और दुर्नातिपूर्ण विपरीत काल में जो जो दिखते हैं सो सब दुर्जन हैं, सब सूखे हुए वन के समान निष्फल और नीरस हैं। राजा लोग सन्ध्याकाल की लालिमा के सदृश हैं। इस लिए मेरा मन अर्थ में अर्थात् काव्य रचना में प्रवृत्त नहीं होता है। इस समय मुझे जो उद्वेग हो गया है, उस से एक पद बनाना भी मेरे लिए भारी हो गया है ॥ ११-१४ ॥

यह जगत यदि दोष से वक्र होता तो मेरे मन में आश्चर्य नहीं होता किन्तु यह तो चढ़ाये हुए चाप (धनुष) सदृश गुण से भी वक्र होता है (धनुष की डोरी 'गुण' कहलाती है। धनुष गुण या डोरी चढ़ा ने से टेढ़ा होता है) ॥ १५ ॥

यद्यपि जगत की यह दशा है तो भी मैं जिन गुणवर्णन करूंगा। तुम मेरी अभ्यर्थना करते हो, तब मैं तुम्हारी अवगणना कैसे कर सकता हूँ ? तुम त्याग भोग और भावोद्गम शक्ति से और निरन्तर की जानेवाली कविमैत्री से

२१ सर्व प्रतीच्छामि । २२ एष तिष्ठामि । २३ तव सिद्धायाः ।

१ भरतस्य । २ सुष्ठु कुरूपेण । ३ मुग्धादेवी । ४ वाणीनिलयेन मन्दिरेण । ५ सत्वेन दृढव्रतेन । ६ निश्चितं । ७ विपरीतः । ८ शुक्लवनामिव जनः । ९ राजा सन्ध्यारागसदृशः । १० शब्दार्थे न प्रवर्तते । ११ एकमपि पदं रचितुं भारो महान् । १२ दोषेण सह जगत् चेत् वक्रं भवति तदाश्चर्यं न, किन्तु गुणेनापि सह वक्रं तदाश्चर्यमाचक्षते । १३ चापः ।

चार्ये भोय भाउममसात्तिप, पई अणवरय रइय कइमित्तिप ॥ १६ ॥
 राउ सालिवाहण वि विसेसिउ, पई गियजसु भुवणयले पयासिउ ।
 कालिदासु जे खैंधे गीयउ, तहो सिरिहरिसहो तुहुं जगि बयिउं ॥ १७ ॥
 तुहुं कइकामधेणु कइवच्छलु, तुहुं कइकपरुक्खु ढोइयफलु ।
 तुहुं कइ सुरवरकीलागिरिवरुं, तुहुं कइ रायहंसमाणससरु ॥ १८ ॥
 महुं मयालसु मयणुम्मत्तउ, लोउ असेसुवि तिठ्ठप भुत्तउ ।
 केण वि कव्वपिसल्लउ मणिणओ, केण वि थट्टु भणेवि अवगणिणउ ॥
 गिण्णमेव सव्वमौव पउंजिउं, पई पुणु विणउ करे वि हउं रंजिउं ॥ १९ ॥
 यत्ता ।

धणु तणुसमु मज्झु ए तं गहणु येहु गिर्कोरिमु इच्छमि ।
 देवीसुअ सुदण्हि तेण हउं गिलप तुहारप अच्छमि ॥ २० ॥
 महुं संमयागमे जायहें ललियहें, घोसइ कोइल अंबयकलियहें ।
 काणणे चंचरीउ रुणुसंइ, कीरु किरण हरिसेण विसट्ठइ ॥ २१ ॥
 मज्झु कइत्तणु जिणपयमत्तिहें, पसरइ एउ गियजीवियवित्तिहें ।
 विमलगुणाहरणंकियदेहउ, पइ भरइ गिसुणइ पई जेहउं ॥ २२ ॥
 कमलगंधु धिण्णइ सारंगे, एउ साल्लरे गीसारंगे ।
 गमणलील जा कयसारंगे सा किं गीसिज्जइ सारंगे ॥ २३ ॥
 वड्ढियसज्जण दुसणवसरणे, सुकइ कित्ति किं हम्मैइ पिसुणे ।
 कहेमि कव्वु वम्मैहसंहारणु, अजियपुराणु भवणवतारणु ॥ २४ ॥

शालिवाहन राजा से भी बड़ गये हो और अपने यश को तुमने पृथ्वीतलपर प्रकाशित कर दिया है। इस समय जगत में तुम दूसरे श्रीहर्ष हो जिसने कविकालिदास को अपने कन्धे पर चढ़ा लिया था। ६- ७ ॥ तुम कविकामधेनु, कविवत्सल, कविकल्पवृक्ष, कविनन्दनवन और कविराजहंस समान सरोवर हो ॥ १८ ॥ ये सारे लोग मूर्ख, मदालस, और मदोन्मत्त बनें रहें, (इन से मुझे कुछ प्रयोजन नहीं) । किसी ने मुझे काव्यराक्षस कह कर माना और किसी ने ठूँठ कह कर मेरी अवमानना की । परन्तु तुमने सदा ही सद्भावों का प्रयोग करके और विनय करके मुझे प्रसन्न रक्खा है ॥ १९ ॥

मैं धन को तिन के के समान गिनता हूँ और उसे नहीं चाहता हूँ । हे देवीसुत श्रुतनिधि भरत, मैं अकारण प्रेम का भूखा हूँ और इसी से तुम्हारे महल में रहता हूँ ॥ २० ॥

वसन्त का आगमन होनेपर जब आमी में सुन्दर मौसम आते हैं तब कोयल बोलती है और बगीचों में और गुंजारव करते हैं, ऐसे समय में क्या तोते भी हर्ष से नहीं बोलने लगते हैं ? ॥ २१ ॥ जिन भगवान के चरणों की भक्ति से ही मेरी कविता स्फुरायमान होती है अपने जीवित की वृत्ति से या जीविकानिर्वाह के खयाल से नहीं । हे विमलगुणाभरणा-कित हे भरत, अब मेरी यह रचना सुन ॥ २२ ॥ कमलों की सुगन्ध भ्रमरगण ग्रहण करते हैं, निःसार शरीर मेंढक नहीं । हाथी या हंस जिस चाल से चलते हैं, उस से क्या हरिण चल सकते हैं ? इसी तरह से जिन्हें सज्जनों को दोष लगाने की आदत पड़ गई है, ऐसे दुर्जन क्या सुकवियों की कीर्ति को मिटा सकते हैं ? अब मैं मन्मथसंहारक और भवसमुद्रतारक अजितपुराण नामक काव्य को कहता हूँ ।

१४ त्यागः । १५ स्कन्धे धृतो येन श्रीहर्षेण । १६ तेन सहस्रो महान् त्वं । १७ मूर्खो लोकः । १८ सद्भाव । १९ अकृत्रिम धर्मानुरागं ।

१ वसन्तसमागमे । २ जातायाः सहकारकालिकायाः । ३ आपन्न कालिकानिमित्तं । ४ गृह्यते । ५ भ्रमरेण । ६ भेकेन । ७ निःसारंगेण निकृष्ट शरीरेण । ८ हस्तिना हंसेन वा । ९ मृगेण । १० हन्यते । ११ कथयामि । १२ मन्मथ ।

परिशिष्ट नं० ३

(उत्तरपुराण के अन्त का कुछ अंश ।)

शिखुप वीरे गलियमयरायउ ईदभू गणि केवलि जायउ ।
 सो विउलहरिहे गउ शिखवाणहो कम्मविमुक्कओ सासयठाणहो ॥ १ ॥
 तहिं वासरे उप्पणणउ केवलु मुणि हे सुधम्महो पक्खालियमलु ।
 तं शिखवाणण जंबू गामहो पंचमु दिव्वाणाण हयकामहो ॥ २ ॥
 गंदि सुणंदिमिपु अवसवि मुणि, गोवद्धण चउत्थु जलहरमुणि ।
 प पच्छुप समत्थ सुयपारथ गिरसियमिच्छामयभवणीरय ॥ ३ ॥
 पुणु वि विसहु जइ पोद्धिउ खत्तिउ जयणाउ वि सिद्धथुह यत्तिउ ।
 दिहिसेणंकउ विजउ बुद्धिउ, गंगु धम्मसेण वि गीसल्लउ ॥ ४ ॥
 पुणु णक्खत्तउ पुणु जसवालउ, पंडु गामु धुवसेण गुणालउ ।

घत्ता ।

अणु कंसउ अप्पउ जिणे वि थिउ पुणु सुहदु जणसुहयरु ।
 जसभदु अखुदु अमंदमइ गायें गावइ गणहरु ॥ ५ ॥
 भइबाहु लोहंहु भडारउ आयारांगधारि जससारउ ।
 पयहिं सव्हु सत्थु मणे माणिउ, सेसहिं एककु देसु परियाणिउं ॥ ६ ॥
 जिणसेणेण वीरसेणेण वि जिणसासणु सेविउ मयगिरिपवि ।
 पुव्वयाले शिसुणिउं सइं भरहें, रापं रिउ-वहुदावियविरहें ॥ ७ ॥
 एवं रायपरिवाडिप शिसुणिउं, धम्म मुहामुणिणाहहिं पिसुणिउ ।
 सेणियराउ धम्म सोयारहं, पच्छिज्जउ वज्जियभयभारहं ॥ ८ ॥
 ताहमि पच्छुप बहुरसणडिप, भरहें काराविउ पद्धडियप ।
 पढेवि सुणेवि आयरणेवि हयकले, पयडिउ मम्मःपं इय महियले ॥ ९ ॥
 कम्मक्खयकारणु गणे दिट्ठउं, एम महापुराणु मइं सिट्ठउं ।
 पत्थु जिणिंद मग्गे ओणाहिउ, बुद्धेविहीणें जं मइं साहिउ । १० ॥
 तं महो खमहो तिलोयहो सारी, अरुहुगय सुअपवि भडारी ।
 चउवीस वि महुं कलुस खयंकर, देंतु समाहि बोहि तित्थंकर ॥ ११ ॥

घत्ता ।

दुहुं छिंदउ गंदउ भुयणयले शिरुवम करणरसायणु ।
 आयरणउ मरणउ ताम जणु जाम चंदु तारायणु ॥ १२ ॥
 वरिसउ मेहजालु वसुहारहि, महि पिच्चउ वहु धरणपयारहिं ।
 गंदउ सासणु वीर जिणेसहो, सेणिउ गिग्गउ णरयणिवासहो ॥ १३ ॥
 लंगउ णह्वणारंभहो सुरवइ, गंदउ पय सुहुं गंदउ गारवइ ।
 गंदउ देसु सुहिक्खु वियंभउ, जणु मिच्छत्तु दुच्चित्तु शिसुंभउ ॥ १४ ॥

दुःखों का नाश हो और यह कर्णरसायन काव्य पृथ्वीतल पर विस्तार लाभ करे । जब तक चन्द्रमा और तारे हैं, तब तक लोग इसे सुनें और इसका आदर करें ॥ १२ ॥

पृथ्वी पर भेष खूब बरसें और तरह तरह के धान्य पकें, वीरभगवान का शासन बढ़े, राजा श्रेणिक नरक निवास से बाहर निकले और (तीर्थंकर होने पर) इन्द्र उस का जन्माभिषेक करें । प्रजा का सुख बढ़े और राजा आनन्दित हो । देश में सुभिक्ष (सुकाल) हो और लोगों का मिथ्यात्व भाव नष्ट हो ॥ १३-१४ ॥ अंगीकृत

पडिषणण पडिपालण सूरहो, होउ संति भरहहो गिरिधीरहो ।
 होउ संति बहु गुणगुणवंतहं, संतहं दयवंतहं भयवंतहं ॥ १५ ॥
 होउ संति बहु गुणहि महल्लहो, तासु जे पुत्तहो सिरि देवल्लहो ।
 एउं महापुराण रयणुज्जले, जे पयडेवउ सयले धरायले ॥ १६ ॥
 चउविह दाणुज्जय कयचित्तहो, भरह परमसम्भाव सुमित्तहो ।
 भोगल्लहो जयजसविच्छुरियहो, होउ संति शिरु शिरुवमचरियहो ॥ १७ ॥
 होउ संति णणहो गुणवंतहो, कुलवच्छल सामत्थ-महंतहो ।
 शिच्चमेव पालियजिणधम्महं, होउ संति सोहण गुणवम्महं ॥ १८ ॥
 होउ संति सुअणहो दंगइयहो, होउ संति संतहो संतइयहो ।
 जिणपयपणमण वियलियगव्वहं, होउ संति णीसेसहं भव्वहं ॥ १९ ॥
 यत्ता ।

इय दिव्वहो कव्वहो तणउं फलु लहुं जिणणाहु-पयच्छउ ।
 सिरि भरहहो अरुहहो जहिं गमण पुप्फयंतु तहिं गच्छउ ॥ २० ॥
 सिद्धिविलासिणि मणहरदुणं, मुद्धापवी तणुसंभूयं ।
 शिद्धणसधणलोयसमचित्तं, सव्वजीवणिककारणमित्तं ॥ २१ ॥
 सहसलिल परिवड्ढियसोत्तं, केसवपुत्तं कासवगुत्तं ।
 विमल सरासइ जणियविलासं, सुणभवण-देवउलणिवारं ॥ २२ ॥
 कलिमल पवल पडल परिचत्तं, शिग्घरेण निपुत्तकलत्तं ।
 णइवावीतलाय सरणहारं, जर चीवरवक्कल परिहारं ॥ २३ ॥
 धीरं धूलीधूसरियंगं, दूरयरुज्झिय दुज्जणसंगं ।
 महि सयणयलं करपंगुरणं, मणिय पंडियपंडियमरणं ॥ २४ ॥
 मरणखेडपुरवरे शिवसंतं, मणे अरहंतु देउ भायंतं ।
 भरहमरणणिजं णयणिलपं, कव्वपवंधजणियजणपुलपं ॥ २५ ॥
 पुप्फयंतकयणा धुयपंकं, जइ अहिमाणमरुणामकं ।

पालन में शूर और पर्वत के समान धीर भरत (मंत्री) को शान्ति प्राप्त हो । गुणवन्त, दयावन्त, ज्ञानवन्त सज्जनों को शान्ति प्राप्त हो ॥ १५ ॥ उस के (भरत के ?) पुत्र अतिशय गुणवन्त श्री देवल्ल को शान्ति मिले जिस ने कि इस महापुराण को स्तोत्रज्वल धरातल पर फैलाया और जिस का चित्त चारों प्रकार के दान करने में उद्यत रहता है तथा जो भरत के लिए परम सद्भावयुक्त मित्र के तुल्य है । जिस का यश संसार में फैल रहा है और जिस का चरित्र उपमारहित है, उस भोगल्ल को शान्ति प्राप्त हो ॥ १६-१७ ॥ कुलवत्सल, समर्थ, गुणवन्त और महन्त गुणगुण को शान्ति प्राप्त हो । निरन्तर जैन धर्म का पालन करनेवाले सोहण और गुणवर्म को शान्ति मिले ॥ १८ ॥ सुजन दंगइय और सन्त संतइय को शान्ति प्राप्त हो । जिनभगवान के चरणों में मस्तक झुकानेवाले और गर्वरहित अन्य सब भव्यजनों को भी शान्ति मिले ॥ १९ ॥

इस दिव्य काव्य की रचना का फल जिननाथ की कृपा से मैं यह चाहता हूं कि श्री भरत और अर्हत का गमन जहां हो पुष्पदन्त भी वहां जावे ॥ २० ॥ सिद्धरूपी विलासिनी के मनोहर दूत, मुग्धादेवी के पुत्र, निर्धनों और सधनों को बराबर समझनेवाले, सर्वजीवों के निष्कारण मित्र, शब्द सलिल से बंधा है काव्य स्रोत जिन का, केशवके पुत्र, काश्यप गोत्रीय, विमल सरस्वती से उत्पन्न विलासोवाले, शून्य भवन और देव कुलों में रहनेवाले, कलिकाल के मत के प्रबल पटलों से रहित, बिना घट्टार के, पुत्रकलत्रहीन, नदी, वापिका और सरोवर में स्नान करनेवाले, फटे कपड़े और वल्कल पहननेवाले, धूलिधूसरित अंग, दुजनों के संग से दूर रहनेवाले, जमीन पर सोनेवाले, अपने हाथों को ही ओढ़नेवाले, पाण्डितपण्डितमरण की प्रतीक्षा करनेवाले, मान्यखेट पुर में निवास करनेवाले, मन में अरहन्त देवका ध्यान करनेवाले, भरतमंत्रीद्वारा सम्मानित, नीति के निलय, अपने काव्यरचनासे लोगों को पुलकित करनेवाले, पापरूप कीचड़ जिन क

कयउं कवु भसिप परमर्थे, कसय कडोत्तर कयसामर्थे ॥ २६ ॥

कोहण संवच्छरे आसाढप, दहमप दियहे चंदरुइरुढप ॥

घत्ता ।

सिरि अरुहहो भरहहो बहुगुणहो कइकुलतिलप भासिउ ।

सुपहाण पुराण तिसट्टिहिमि पुरिसहं चरिउ समासिउ ॥ २७ ॥

इय महापुराणे तिसट्टिमहापुरिसगुणालंकारे महाभवभरहाणमणिएप महाकइपुण्यंत विरइप
महाकवे दुइत्तरसइमो परिच्छेओ समत्तो ॥ १०२ ॥

(प्राचीन पत्र) संवत् १६३० वर्षे भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे पूर्णिमातिथौ कविघासरे उत्तरा
भाद्रपद नक्षत्रे नेमिनाथचैत्याक्षये श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये
भ० श्रीपद्मानंददेवास्तत्पट्टे भ० श्रीशु [भचन्द्रदेवास्त] त्पट्टे भ० श्रीजिनचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ०
श्रीप्रभाचन्द्रदेवास्तत्सिन्धु मं० श्रीध.....स्तत्सिन्धु मं० श्री ललितकीर्ति देवास्तत्शिन्धु
मं० श्री चंद्रकीर्ति देवास्तद.....(खंडेल) वालान्वये साषडा गोत्रे सा० धेल्हा तद्भार्या
धिल्हसरिस्तत्पुत्रौ द्वौ प्र० सा.....छायलदे तत्पुत्रः सा० वीरम तद्भार्या वीरमदे तत्पुत्रः
सा० नाथ तद्भार्या.....तीय जिनपूजापुरंदर सा० श्री धणराज तद्भार्ये द्वे प्र० सती
सीताक.....

परिशिष्ट नं० ४

(महापुराण के परिच्छेदों के प्रारंभिक पद्य)

- १ आदित्योदयपर्वताङ्गुतराब्जन्द्रार्कचूडामणे-
राहेमाचलतः कुशेनिलयादासेतुबन्धादृढात् ।
आपातालतलादहीन्द्रभवनादास्वर्गमार्गे गता
कीर्तिर्यस्य न वेत्ति भद्र भरतस्याभाति खण्डस्य च ॥
- २ बलिजीमूतदधीचिषु सर्वेषु स्वर्गतामुपगतेषु ।
संप्रत्यनन्यगतिकस्यागुणो भरतमावसति ॥
- ४ आश्रयवसेन भवति प्रायः सर्वस्य वस्तुनोऽतिशयः ।
भरताश्रयेण संप्रति पश्य गुणा मुख्यतां प्राप्ताः ॥
- ५ भूलीलां त्यज मुंच संगतकुचद्वंदादिगर्वाक्षमा,
मा त्वं दर्शय चारुमध्यलतिकां तन्वंगि कामाहता ।
मुग्धे श्रीमदनिघखंडसुकवेर्बधुर्गुणैरुन्नतः
स्वप्नेष्येष्ट परांगनां न भरतः शौचांशुधेर्वाछति ॥
- ६ श्रीर्वाग्देव्यै कुप्यति वाग्देवी द्वेष्टि संततं लक्ष्म्यै ।
भरतमनुगम्य सांप्रतमनयोरात्यांतिकं प्रेम ॥
- ७ इहो भद्र प्रचंडावनिपतिभवने त्यागसंख्यातकर्ता
कोयं श्यामप्रधानं प्रवरकरिकराकारबाहुः प्रसन्नः ।
धन्यः प्रालेयपिण्डोपमधवल्यशो धौतधात्रीतलांतः-
ख्यातो बन्धुः कवीनां भरत इति कथं पांथ जानासि नो त्वं ॥

घो गया है और अभिमानमेरु जिन का चिन्ह या उपनाम है, उन पुष्पदन्त कवि ने यह काव्य भक्ति के वश हो कर
६०६ के क्रोधन नामक संवत्सर में आसाढ के दशवें दिन सोमवार को बनाया ॥ २५-२६ ॥ कविकुलतिलक ने पुराणप्र-
सिद्ध त्रैलोक्य पुरुषों का चरित संक्षेप से वर्णन किया ॥ २७ ॥

- ८ मातर्वसुंधरि कुतूहलिनो ममैतदापृच्छतः कथय सत्यमपास्य साव्यं ।
त्यागी गुणी प्रियतमः सुभगोऽभिमानी किं वास्ति नास्ति सदृशो भरतार्यतुल्यः ॥
- ९ एको दिव्यकथाविचारचतुरः श्रोता बुधोऽन्यः प्रिय
एकः काव्यपदार्थसंगतमतिश्चान्यः परार्थोद्यतः ।
एकः सत्कविरन्य एक महतामाधारभूतो बुधा
द्वावेतौ सखि पुष्पदन्त-भरतौ भद्रे भुवो भूषणौ ॥
- १० जेगं हम्मं रम्मं दीवओ चंदारिबं धरसी पल्लको दो वि हत्या सुवरत्नं ।
पिया शिदा शिच्चं कव्यकीलाविणोओ अदीणत्तं वित्तं ईसरो पुष्पयंतो ॥
- ११ सूर्यात्तेज गभीरिमा जलानिधेः स्वैर्यं सुराद्रेर्विधोः
सौम्यत्वं कुसुमायुधात् सुभगं त्यागं बलैः संप्रमात् ।
एकीकृत्य विनिर्मितोऽतिचतुरो धात्रा सखे सांप्रतं
भरतार्यो गुणवान् सुलब्धयशसः खण्डः कवेर्वल्लभः ॥
- १४ केलासुब्भासिकंदा धवलदिसिगओगिणणदंतांकुरोहा,
सेसाही बद्धमूला जलाहिजलसमुब्भयडिंडीरवत्ता ।
बंभंडे वित्थरंती अमयरसमयं चंदबिबं फलंती,
फुल्लंती तारओहं जयइ णवलया तुज्झ भरहेसकिस्ती ॥
- १५ त्यागो यस्य करोति याचकमनस्तृष्णांकुरोच्छेदनं,
कीर्तिर्यस्य मनीषिणां वितनुते रोमांचचर्च वपुः ।
सौजन्यं सुजनेषु यस्य कुरुते प्रेमांतरां निर्वृतिं,
श्लाघ्योऽसौ भरतः प्रभूर्भव भवेऽत्कार्मिर्गिरां सूक्तिभिः ॥
- १६ प्रतिगृहमटति यथेष्टं वांदिजनैः स्वैरसंगमावसति ।
भरतस्य वल्लभाऽसौ कीर्तिस्तदपीह चित्रतरं ॥
- १७ बल्लिभंगकंपिततनु भरतयशः सकलपाण्डुरितकेशम् ।
अत्यंतवृद्धिगतमपि भुवनं बंभ्रमति तच्चित्रम् ॥
- १८ शशधरबिम्बात्कान्तिस्तेजस्तपनाद्भूमीरतामुदधेः ।
इति गुणसमुच्चयेन प्रायो भरतः कृतो विधिना ॥
- १९ श्यामहाचिनयनसुभगं लावण्यप्रायमंगमादाय ।
भरतच्छलेन संप्रति कामः कामाकृतिमुपेतः ॥
- २१ यस्य जनप्रसिद्धमत्सरभरमनघमपास्य चारुणि,
प्रतिहतपक्षपातदानश्रीरसि सदा विराजते ।
वसति सरस्वती च सानन्दमनाविलसदनपंकजे,
स जयति जयतु जगति भरहेश्वर सुखमयममलमंगलः ॥
- २२ मदकरदलितकुम्भमुक्ताफलकरभरभासुरानना,
मृगपातिनादरेण यस्योऽद्धृतमनघमनघर्मासनम् ।
निर्मलतरपवित्रभूषणगणभूषितवपुरदारुणा,
भारतमल्ल सास्तु देवी तव बहुविधमंबिका मुदे ॥
- २३ अंगुलिदलकलापमसमश्रुति नखनिकुरंबकर्णिकं

१ यही पद्य ५० वें परिच्छेद के प्रारंभ में भी दिया है । २ यह पद्य ९५ वें परिच्छेद के प्रारंभ में भी है । ३ यह १०२ वें परिच्छेद में भी है । ४ यह ३९ वें परि० में भी है

- सुरपतिमुकुटकोटिमाणिक्यमधुव्रतचक्रचुम्बितम् ।
विलसदणुप्रतापनिर्मलजलजन्माविलासकोमलं
घटयतु मंगलानि भरतेश्वर तव जिनपादपंकजम् ॥
- २४ हिमगिरिशिखरनिकरपरिपंडुरधवलियगगनमण्डलं
पुलकमिवातनोति केतकतरुवरतरुकुसुमसंकटे ।
विकसितपणिफणासु सुरसरितामणिरुचिगतमधः-
क्षितेरिदमतिचित्रकारि भरतेश्वर जगतस्तावकं यशः ॥
- २५ उन्नतातिमनुमात्रपात्रता भाति भद्र भरतस्य भूतले ।
काव्यकीर्तिघटारवा गृहे यस्य पुष्पदंतो दिशागजः ॥
- २६ घनधवलताश्रयाणामचलस्थितिकराणां मुहुर्भ्रमताम् ।
गणनैव नास्ति लोके भरतगुणानामरीणां च ॥
- २७ गुरुधर्मोद्भवपावनमभिनंदितकृष्णार्जुनगुणोपेतम् ।
भीमपरामक्रसारं भारतमिव भरत तव चरितं ॥
- २८ मुखमलिनोदरसन्निगुणहृददये सदैव यद्वसति ।
चित्रमिदमत्र भरते शुक्लापि सरस्वती रक्ता ॥
- २९ तंत्रीवाद्यैरनिद्यैर्वरकविरचितैर्गद्यपद्यैरनेकैः,
कांतं कुंदावदातं दिशि दिशि च यशो यस्य गीतं सुरैः ।
काले तृष्णाकरालं कलिमलकलितेप्यद्य विद्याविनोदो
सोयं संसारसारः प्रियसाखि भरतो भाति भूमण्डलेऽस्मिन् ॥
- ३ बंभंडाहंडलखोणिमंडलुच्छलियकिस्तिपसरस्स ।
खंडस्स समं समसीसियाए कइणो ण लज्जंति ॥
- ३३ विनयांकुरसातवाहनादौ नृपचक्रे दिवसीयुषि क्रमेण ।
भरत तव योग्यसज्जनानामुपकारो भवति प्रसक्त एव ॥
- ३४ तीव्रापहिवसेषु बन्धुरहितेनैकेन तेजस्विना
सन्तानक्रमतो गतापि हि रमाकृष्टा प्रभोः सेवया ।
यस्याचारपदं वदंति कवयः सौजन्यसत्यास्पदं
सोऽयं श्रीभरतो जयत्यनुपमः काले कलौ सांप्रतम् ॥
- ३५ इति भरतस्य जिनेश्वरसामायिकशिरोमणेर्गुणान्वक्तुम् ।
मातुं च वार्द्धितोयं चुलुकैः कस्यास्ति सामर्थ्यम् ॥
- ५६ अत्र प्राकृतलक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्चन्द्रसा-
मर्थोलंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्त्वार्थनिर्णीतयः ।
किंचान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते
देवे तौ भरतेश-पुष्पदन्तौ सिद्धं ययौरीदृशम् ॥
- ६३ बन्धुः सौजन्यवाङ्मयः कविखलधिषणाध्वातविध्वंसमानुः
प्रौढालंकारसारामलतनुविभवा भारती यस्य नित्यम् ।
वक्त्रांभोजानुरागक्रमनिहितपदा राजहंसीव भाति
प्रोद्यद्गंभीरभावा स जयति भरते धार्मिके पुष्पदन्तः ॥
- ६४ आखंडोडुमरावचंडमरुकं चंडीशमाश्रित्य यः
कुर्वन्काममकांडतांडवविधिं डिंडीरपिंडच्छविः ।
हंसाडंबरमुंडमंडललसद्भागीरथीनायकं

१ यही पद्य २७ वें परिच्छेद में भी दिया है । २ यही पद्य ८८ वें परिच्छेद में भी है । ३ यही पद्य ४० वें परिच्छेद में भी है । ४ पूने की प्रति में यह पद्य तेरहवें परिच्छेद में भी लिखा है ।

- वाङ्मनित्यमहं कुतूहलवती खंडस्य कीर्तिः कृतेः ।
 ६५ आजन्मं कवितारसैकधिषणा सौभाग्यभाजो गिरां
 दृश्यन्ते कवयो विशालसकलग्न्यानुगा बोधतः ।
 किंतु प्रौढनिरुदगूढमतिना श्रीपुष्पदंतेन मोः
 साम्यं बिभ्रति नैव जातु कविना शीघ्रं त्वतः प्राकृतेः ॥
 ६६ यस्येह कुंदामलचन्द्ररोचिः समानकीर्तिः ककुभां मुखानि ।
 प्रसाधयती ननु भंभमीति जयत्वसौ श्रीभरतो नितान्तम् ॥
 पीयूषसूतिकिरणा हरहासहारकुंदप्रसूनसुरतीरिप्पिशकनागाः ।
 क्षीरोदशेषबलसत्तमहंस चैव किं खंडकाव्यधवलता भरतस्तु यूयम् ॥
 ६७ इह पठितमुदारं वाचकैर्गीयमानं इह लिखितमजस्रं लेखकैश्चारुकाव्यम् ।
 गतवति कविमित्रे मित्रतां पुष्पदन्ते भरत तव गृहस्मिन्भाति विद्याविनोदः ॥
 ६८ चंचेच्छंद्रमरीचिचंचुरचुरांचातुर्यचक्रैर्चिता
 चंचंती विचटश्चमत्कृतिकविः प्रोद्दामकाव्यक्रियाम् ।
 अर्चंती त्रिजगत्सुकोमलतया बांधुर्यधुर्या रसैः
 खण्डस्यैव महाकवेः सभरतान्नित्यं कृतिः शोभते ॥
 ८० लोके दुर्जनसंकुले हतकुले तृष्णावसे नीरसे
 सालंकारवचोविचारचतुरे लालित्यलीलाधरे ।
 भद्रे देवि सरस्वति प्रियतमे काले कलौ सांप्रतं
 कं यास्यस्यभिमानरत्ननिलयं श्रीपुष्पदंतं विना ॥

परिशिष्ट नं० ५

(यशोधरचरित के कुछ अंश ।)

तिहुयणसिरिकंतहो अइसयवंतहो अरहंतो धम्महहो ।
 पणविधि परमेष्ठिहिं पविमलदिष्टिहिं चरणजुयलु णयसयमहहो ॥ धुवकम् ।
 कुंडिलगुत्तणहदिणयरासु, वल्लहनरिंदघरमहयरासु ।
 गुणगच्छु मंदिरणिवसंतु संतु, अहिमाणमेरु कह पुफयंतु ॥
 चित्तइ हो वण नारीकहाप, पज्जत्तउ कय दुक्खयपहाप ।
 कय धम्मणिवद्धी कावि कहविं, कहियाइ जाइ सिव सोक्खलहमि ॥

X X X

अग्गाइ कइराउ पुफयंत सरसइणिलओ ।

देवियहं सरुओ वणणइ कइयणकुलतिलओ ॥^६

X X X

इय जसहरमहारायचरिण महामहल्ल गुणगणपणाहरणे महाकइ पुफयंतविरइए महाकळे
 जसहररायपहबंधो नाम पढमो परिच्छेओ सम्मतो ॥ १ ॥

नित्यं यो हि पदारविन्दयुगलं भक्त्या नमत्यर्हता-

मर्थं चिंतयति त्रिवर्गकुशलो जैनश्रुतानां भृशम् ।

साधुभ्यश्च चतुर्विधं चतुरधीर्दानं ददाति त्रिधा

स श्रीमानिह भूतले सह सुतैर्नान्नाभिधो नंदतात् ॥

X X X

१ शोभमान । २ चपल । ३ चौर्य । ४ समूह । ५ शोभमाना । ६ विद्युत्त चमत्कृत्या कवयो यथा । ७ अच्छंती ८ मनोहरता । ९ यह पद्य बम्बई की प्रति में नहीं है ।

नक्षत्राधीशरोचिप्रचयशुचिबरोहामकीर्त्या निकेतो,
निर्णताशेषशास्त्रास्त्रिदशपतिनुताशेषविन्पादभक्तः ।
भ्राता भव्यप्रजानां सततमिह भवाम्भोधिस्सारभीरु-
र्नीतिज्ञो निर्जिताक्षः प्रणयविनयतान्नदतान्नभ्रनामा ॥

आश्रान्तदानपरितोषितवन्धवृद्धो दारिद्र्यरौद्रकारिकुंभविभेददक्षः ।
श्रीपुष्पदन्तकविकाव्यरसामितृप्तः श्रीमान्सदा जगति नन्दतु नभ्रनामा ॥^२

गंधर्वे कण्डवदण्डेण आयइं भवाइं किय थिरमणेण ।
महु दोसु ण दिज्जइ पुव्वे कइउ कइवच्छुराय तं सुत्तु लहई ॥^३

पावनिसुंभणि मुद्दाबंभणि, उअरुप्पणि सामलवर्णिण ।
कासवगुत्ति केसवपुत्ति, जिणपयमत्ति धम्मासत्ति ॥
वयसंजुत्त उत्तमसत्तं, वियलियसकं अहिमाणेकं ।
पहसियतुंडं कयणा खंडं, रंजियबुहसह कयजसहरकह ॥
जो आयणणइ चंगउ मणणइ, लिहइ लिहावइ पढइ पढावइ ।
जो मणसावइ सो नर पावइ, विहुणियघणरय सासयसंपय ॥
जणवयनीरसि दुरियमलीमसि, कयनिंदायरे दूसहि दुहयरे ।
पडियकवालप नरकंकालप, बहुरंकालप अइदुक्कालप ॥
पवरागारि सरसाहारि, सन्हइ चेलइ वरतंबोलइ ।
महु उवयारिउ पुण्णिण्णेरिउ, गुणभसिज्जउ गुणमहज्जउ ॥
होउ चिराउसु वरिसउ पाउसु, तिप्पउ मेइणि धणकणदाइणि ।
विलसउ गोविणि णब्बउ कामिणि, घुम्मउ महल पसरउ मंगलु ॥
सत्ति वियंभउ दुक्ख निसुंभउ, धम्मच्छाहिं सहनरनाहिं ।
सुह नंदउ पय जय परमण्य, जय जय जिणवर जय भवभयहर ॥
धिमलु सुकेवलणाणसमुज्जल, मह उप्पज्जउ शच्छिउ दिज्जउ ।
मइ अमुणंतइ कवु कुणंतइ, जं हीणाहिउ काइवि साहिउ ॥

धत्ता—तं माइ महासइ देवि सरासइ निहयसयलसंदेह दुह ।

महु खमहु भडारी तिहुयणसारी पुप्फयंत जिणवयणरुह ॥ २३ ॥

इयजसहरमहारायचरिप.....चउत्थो परिच्छेओ सम्मत्तो ॥ छ ॥ मंगलमस्तु ।

संवत् १३६० वर्षे आषाढ सुदि १३ शनौ अद्येह श्रीमहाराजाधिराज श्रीसुरत्राण महामदराज्ये
दुर्गमंडप पडिगनायागे वगडी नामनि प्राग्वाटवंशीय सा० भावडसंताने सा० मलहौ पुत्र रामा
भ्रातृ देल्हाकेन द्वाभ्यां जसोधरपुस्तिका लेखिता । सा चिरं नंदतु ॥ छ ॥ शुभमस्तु ॥

परिशिष्ट नं० ६

(आदिपुराण की प्रति लिखानेवाले की प्रशस्ति ।)

पणाविधि रिसहेसर विणिहयपणसर लोयालोय पयासणु ।
वरमुत्तिरमणवर जम्ममरणहर कम्ममहारि विणासणु ॥
मैनयणवाणससहरमिपसु संवच्छरेसु पच्छइ गणसु ।
विक्कमरायहा सुइसेयपक्ख णवमी बुहवारे सच्चित्तरिक्ख ॥
गोवेगिरीणयरे णिउ इंगरिहु, हुउ पयपाडियसामंतविंदु ।

१ यह पद्य तीसरे परिच्छेद के प्रारंभ में है । २ यह पद्य चौथे परिच्छेद के प्रारंभ का है, परन्तु बम्बई और पूने की दोनों प्रतियों में नहीं है । छपी हुई भाषावली प्रति में है । ३ यह पद्य बम्बई की प्रति में नहीं है ।

४ मद्-नयन-बाण-क्षत्रधर मितेसु, अर्थात् वि० संवत् १५२१ । ५ ग्वालियर-गोपाचल । ६ इंगर सिहराजा ।

तहो सुउ सकिसिधवलियदियंतु सिरीकीति सिहु शिवलच्छिकंतु ॥
 सिरिकइसंगमंडण मुण्डिहु, गुणकीति जईसरु जण अण्डिहु ।
 जसकीति किस्ति मंडिय तिलोउ तहो सीसु मलयकीति जिअसोउ ॥
 गुणमदहु भदहु तहो पट्टि सूरि जे जिणधयणामिउ रसिउ भूरि ।
 सिरि जइसवाल-कुलणह ससंकु, सिरि उल्हासाहु सया असंकु ॥
 तहो जाया गयसिरि गामधेय, तहि सुअ हंसराजु दया अमेय ।
 उल्हा चउधरियहु गारि अरण, भावसिरि गाम गियगुणपसरण ॥
 तहो पुत्त चयारि हयारिमल्ल, सिरि पउमसिहु जिहुँउ अतुल्ल ।
 लच्छीहरमाणिकु मणिसमाणु, धेना रायालयदीवमाणु ॥

धत्ता—सिरि हंसराय चउधरिय घरे विजसिरि भज्जा महिया ।
 तहो सुय गुणसाथर सुहपउरेसर परिमियमयगणरहिया ॥
 तहि लल्ला रयण सुबुद्धिधामु, मयणुजि वीरु मंडेहिहाणु ।
 सिरि पउमसिह भज्जा सुपुज्ज, वीराणामे वरगुणसमुज्ज ॥
 तहो सुउ सोनिग गामेण धीरु, सूआ घरिणि एसहु जणि अभीरु ।
 वीह वल्लहलउहंगवग्गा, वीधो हिहाण सयदलकरग्गा ।
 अरणजि घरिणी मीया अहिकख, सिरि पउमसिह घरे लीलसिक्ख ।
 तहो चारिपुत्त हियपियरचित्त सिरि चित्त वालु डालु विचित्त ॥
 तीयउ कुलदीवउ सो पयच्छु, तह मयणवालु चउयउ पसत्थु ।
 माणिक माणिणिणं कामभल्लि, लखणसिरि गाम गारी मतल्लि ॥
 धेण। घरिणिउ गं कामअत्थु, संगहिउ जार्हि जिणधम्मवत्थु ।
 मयणाभज्जो यति भाह भीय गामेण सया सीलेण सीय ॥
 लल्ला पिय मणसिरि पढम अरण, पट्टो मंगाभिकखो सुवण्ण ।
 सुअ रामवंग कुलकमलनंदु, नंदउ चिरु इह गं वीयचंदु ।
 नंदा पूना वे भउज्जुत्तु, चिरु जीवउ वीरु कमलवत्तु ॥
 पयाहं मभि सिरि पोमसिह, जिण सासणणंदणवणसुसिहु ।
 विज्जुलचंचलु लच्छी सहाउ, आलोइवि हुउ जिणधम्मभाउ ॥
 जिण गंधु लिहाविउ लक्खु पक्कु, सावयलक्खाहारातिरिक्कु ।
 मुणि भोयणु भुजाविय सहासु, चउवीस जिणालउ किउ सुभासु ॥
 धेना चउधरिय निमित्तु दव्वु, तेणज्जिउ लाइविजे अउव्व ।
 पुरुषवजिणायदणु जि विचित्तु, ससिहरु सुपाडिहेरट्टुत्तु ॥
 शिम्मविउ भवंबुहि जाणवत्तु, रयणत्तयजुयजुयपासजुत्तु ।
 कारिय पइठ जिणसमइ दिट्ठ, अवलोइवि सयल सच्चिसिहिट्ठ ।

धत्ता—गंदउ सिरिहंसराउ सुहउ, गंदउ पउमसिहु ससुउ ।
 गंदउ परिवारु लच्छिकलिउ, गंदउ लोउ गुणोह जुउ ॥
 आयासस्स जिणस्स य जिह अतं कोवि लहइ न गुणस्स ।
 सिरि पोमसिह तिह ते को पारइ गुणणिहाणस्स ॥ १
 सिरि पउमसिह पउमं इह लोप जइ ग होतु ता पउमा ।
 कीला कत्थ करंती सुदाणपूया विणोपाहि ॥ २ ॥

४ कीर्तिसिह, इंगरसिह का पुत्र । ५ गुणकीर्ति यतीश्वर । ६ यशः कीर्ति । ७ मलयकीर्ति—यशः कीर्ति के शिष्य ।

८ जिनवचनामृतराशिक । ९ गयसिरि जाया—गजश्री नामकी भार्या । १० उयेष्ठ—जेठा ।

પ્રો. લ્યુમન અને આવશ્યક સૂત્ર



જર્મનીના પ્રસિદ્ધ પ્રોફેસર લ્યુમન જૈન આગમોના ઘણા ઝંડા અભ્યાસી છે. લગભગ અર્ધા સૈકા જેટલા લાંબા સમયથી તેઓ જૈન સાહિત્યનું અવગાહન કરતા આવ્યા છે અને અનેક જૈન સૂત્રો-પ્રન્યોના સૂઝ, નિર્યુક્તિ, માહ્ય, ટીકા, ટિપ્પણી આદિને અર્વાચીન શાસ્ત્રીય પદ્ધતિએ સંશોધિત-અનુવાદિત કરી તેમણે પ્રકાશમાં આપ્યા છે. એ બધામાં આવશ્યકસૂત્ર અને તેને લગતા સાહિત્ય ઉપર જે તેમણે અથાગ પરિશ્રમ ઉઠાવ્યો છે અને તે વિષયમાં જે નિબંધો આદિ લખ્યા છે તે તો યોરોચર તેમની જૈન સાહિત્ય વિષયક સૂક્ષ્મ-પ્રવીણતાની આશ્ચર્ય-કારક સાક્ષી આપે છે.

જર્મનીના લીપ્સીક શહેરમાથી પ્રકટ થતી ઓરિએન્ટલ સોસાયટીની પ્રન્યમાળા (Abhandlungen für die Kunde des Morgenlandes) માં આવશ્યક-કથા (Die Avashyaka Erzählungen) નામે એક પ્રન્ય છપાવવાની તેમણે સુરુઆત કરી હતી, જેમાં આવશ્યક સૂત્રની ચૂર્ણિ અને ટીકામાં આવતી બધી કથાઓ સૂઝ રૂપે આપી, જુદી જુદી પ્રતોમાં મઢી આવતાં તેમનાં પાઠાન્તરો તથા બીજા બીજા પ્રન્યોમાં મઢી આવતાં રૂપાન્તરોની ઘણી વિસ્તૃત રૂપરેખા આલેખવાની તેમની ઇચ્છા હતી. પરંતુ, તે માટે જોઈતાં બધાં સાધનો-માહ્ય, ચૂર્ણિ, ટીકા આદિની જુદી જુદી પ્રતો વિગેરે-ન મઢી શકવાથી, પચાસેક પાનાં છાપી તેમણે એ કાર્ય બંધ કરવું પડ્યું હતું. તે દરમ્યાન સને ૧૮૯૪ માં જિનેવા (Geneve) માં ભરાયેલી ઇન્ટર નેશનલ ઓરિએન્ટલ કોંગ્રેસમાં વાંચવા માટે આવશ્યકસૂત્ર સાહિત્ય ઉપર જર્મન ભાષામાં એક વિસ્તૃત નિબંધ તેમણે તૈયાર કર્યો હતો જેમાં આવશ્યક સૂત્રને લગતું જેટલું સાહિત્ય મઢી આવે છે તેનું અતિસૂક્ષ્મરીતે વિવેચન કર્યું હતું. એ નિબંધ (Uebersicht über die Avashyaka-Litteratur) ના નામે તેમણે સ્વતંત્રરીતે પ્રકટ કર્યો છે; જેના હેમી સાઈઝના આજ્ઞા કાગળ જેવડા ૫૦ ઉપર પાનાં છે. એમાં પ્રથમ શ્વેતાંબર અને દિગંબર બંને જૈન સંપ્રદાયોમાં આવશ્યકને શું સ્થાન છે તે બતાવ્યું છે; અને પછી આવશ્યક સૂત્રની ભદ્રવાહુકૃત નિર્યુક્તિમાં આવતા બધા વિષયોનો બહુ ધૂબી ભરેલો સાર આપ્યો છે. એ સારમાં સાથે સાથે નિર્યુક્તિમાં આવતા વિષયોને બીજાં બીજાં સૂત્રો અને માહ્યો વિગેરેમાં આવતા તેજ વિષયો સાથે, કોષ્ટકો કરી કરી ગાથાઓવાર સરખાવ્યા છે. આવશ્યકચૂર્ણિ અને હરિભદ્રકૃત ટીકામાં પરસ્પર જે જે વિશેષ છે તે સપાટા મૂઝ પાઠો સાથે સમજાવ્યા છે. પછી જિનભદ્ર ક્ષમાશ્રમણકૃત વિશેષાવશ્યક માહ્યનું લંબાણથી વિવેચન કર્યું છે. એમાં પળ પહેલાં, વિશેષાવશ્યક એ શું છે, તેની ટીકા વિગેરે કોળે કરેલી છે, એ બતાવ્યું છે; અને ત્યાર બાદ નિર્યુક્તિની ગાથાઓને માહ્યના વિવરણ સાથે વિષયવાર સમજાવી છે. અને એ ઉપરાંત પછી આજ્ઞા માહ્યનો સાર આપ્યો છે. એટલું કરીને પળ એ જર્મનદેશીય ગીતાર્થને સંતોષ ન થયો તેથી એ નિબંધની એક જુદી પૂર્તિ કરી છે, જેમાં વિશેષાવશ્યક માહ્યની શીલાંકા-ચાર્યકૃત પ્રાચીન અને દુર્લભ ટીકામાં જે જે વિશેષ વિશેષ ઉલ્લેખો છે તે બધા સૂઝરૂપે ગાથાવાર છપાવી દીધા છે અને છેવટે એ ટીકાની સૌથી જૂની તાલપત્રની પ્રતિ જે હાલમાં પૂનાના માંડારકર

ઓરિએન્ટલ રીસર્ચ ઇન્સ્ટીટ્યુટમાં સુરક્ષિત છે, તેના અતિજીર્ણ શીર્ષકાં કેટલાં પાનાના ફોટોગ્રાફ્સ આપ્યા છે.^૧

પ્રો. લ્યુમનના અથાગ પરિશ્રમ મેલેલા એ આજના નિબંધનો અવિકલ ગુજરાતી અનુવાદ કરાવવાનો અમારો વિચાર ચાલી રહ્યો છે પણ કમનસીબે હજી અમને એ નિબંધની પૂરી નકલ મળી નથી. પૂનાના ભાંડારકર ઓ. રી. ઇન્સ્ટીટ્યુટમાંના સર ભાંડારકરના પુસ્તકસંગ્રહમાંથી ફક્ત એના કેટલાક મુફસીટ્સ જ અમને જોવા મળ્યા છે, જે પ્રો. લ્યુમને ડૉ. ભાંડારકરને, એ નિબંધ છપાતી વખતે, પૂનાની પ્રતો સાથે સરસાવી જોવા માટે મોકલ્યા હોય એમ દેખાય છે. એ સંબંધમાં ખુદ પ્રો. લ્યુમનસાથે જ અમારો પત્રવ્યવહાર ચાલે છે જેનો સવિસ્તર ખુલાસો મળતાં ભાષાંતરની વ્યવસ્થા કરવામાં આવશે. તે દ્રમ્યાન, જૈન સાહિત્ય સંશોધકના વાચકોને એ અમૂલ્ય નિબંધનો કાંઈક પરિચય થાય તેટલા માટે મજકુર પ્રોફેસરે એ નિબંધમાં આવશ્યક નિર્યુક્તિ અને વિશેષાવશ્યક માહ્યમાં આવતા ગણધરવાદ નામે વિષયના ઉપર જે એક પ્રકરણ લખ્યું છે તેનો અનુવાદ આપીએ છીએ. એ અનુવાદ કાર્યમાં, મિ. આર. ડી. વાડેકર, બી. એ. નામના સજ્જને જર્મન ભાષા સમજાવવા માટે જે સહાયતા અપી છે તેની આભાર સાથે અમારે અહીં જાણ નોંધ લેવી જોઈએ.

ભારત જૈન વિદ્યાલય; પૂના
વૈશાલ; સંવત્ ૧૯૭૯

}

—મુનિ જિન વિજય

—કેશવલાલ, પ્રે. મોદી.

વિશેષાવશ્યકમાહ્ય અને તેની ટીકામાં મળી આવતાં બૈદિક અને દાર્શનિક અવતરણો.

આવશ્યક નિર્યુક્તિના છટ્ટા ભાગની ૧ થી ૬૪ મી સુધીની ગાથાઓમાં ગણધરવાદ નામે વિષય આવેલો છે. એમાં કેવી રીતે મહાવીરે ૧૧ બ્રાહ્મણોના તત્ત્વજ્ઞાન વિષયક સંશયો દૂર કરી, શિષ્યો સાથે તેમને પોતાના શિષ્યો બનાવ્યા એનું ટૂંકું અને એક જ પ્રકારનું વર્ણન આપેલું છે. એ અગ્યારે બ્રાહ્મણો મહાવીરના મુખ્ય શિષ્ય હોઈ ગણધરો કહેવાય છે. શરૂઆતમાં ૨ થી ૭ સુધી ગાથામાં સંક્ષેપમાં ગણધરોનો ટૂંક પરિચય અને સંશયાત્મક વિષયની નોંધ આપી છે અને પછી ૮ થી ૬૪ સુધી ગાથામાં તેનો જ વિસ્તાર આપેલો છે. ગાથાવાર હકીકત આ પ્રમાણે:—

૨. ઉન્નત અને વિશાલકુલમાં ઉત્પન્ન થયેલા અગ્યારે બ્રાહ્મણ પાવાનામક સ્થાનમાં સોમિલ બ્રાહ્મણે આરંભેલા યજ્ઞપાઠકમાં આવેલા હતા.

૩—૪. તેમનાં નામ—

૧ ઇન્દ્રભૂઈ

૬ મણિય

૮ અકંપિય

૨ અગિમભૂઈ

૭ મોરિયપુત્ર

૯ અયલભાય

૩ વાડભૂઈ

૧૦ મેયજ્ઞ

૪ વિયત્ત

૧૧ પદાસ

૫ સુહસ્મ

૫. આ અગ્યારેમાંથી ફક્ત એક સુધર્મ (૫મા ગણધર) નીજ શિષ્ય પરંપરા આગળ ચાલી. બાકીના કોઈનો શિષ્ય સમુદાય રહ્યો નહીં.

૧ એ આજના પુસ્તકના અમે પણ ફોટોગ્રાફ્સ પઢાવ્યા છે. જરૂર પડે એ પ્રતિ એક દર્શનીય પ્રતિ છે અને એના એ ફોટોગ્રાફ્સની નકલ દરેક પુસ્તક મેંદારમાં મુકવામાં આવે એવી આમારી જાણ મહામન છે.

૬ ઢૂંઠા ગાથામાં ક્રમથી એ અગ્યારેના મનમાં જે જે બાબતનો સંશય હતો તેની નોંધ છે અને તે આ પ્રમાણે છે —

જીવિ^૧ કમ્મે^૨ તજ્જીવ^૩ મૂય^૪ તારિસય^૫ બન્ધ-મોક્ષે^૬ ય ।

દેવા^૭ નેરઙ્ગ્યા^૮ વા પુણ્ણે^૯ પરલોગ^{૧૦} નિઠ્ઠવાણે^૧ ॥ ૬ (૫૯૬)

૭. પહેલા પાંચે ગણધરોને ૫૦૦--૫૦૦ શિષ્યો હતા; ૬-૭ ને ૩૫૦-૩૫૦ અને છેલ્લા ૪ ને ૩૦૦--૩૦૦ શિષ્યો હતા.

મહાવીર દરેકને નામ ગોત્ર પૂર્વક બોલાવે છે અને પછી તેના મનના સંશયનું નામ લઈ, 'તું વેદના પદોનો અર્થ જાણતો નથી, તેનો અર્થ આ પ્રમાણે છે' એમ એક જ પ્રકારનો જવાબ આપે છે. ગાથાવાર ગણધરોનો ઉલ્લેખ આ પ્રમાણે —

૧૭.	પહેલો	ગણધર,	જીવ વિષયક	સંશય.
૨૫.	બાંજો	"	કર્મ વિષયક	"
૩૧.	ત્રાંજો	"	તજ્જીવ તચ્છરીર વિ०	"
૩૫.	ચોથો	"	પચ્ચ મૂત વિ०	"
૩૯.	પાંચમો	"	સદ્દશોત્પત્તિ વિ०	"
૪૩.	છઠ્ઠો	"	બન્ધ મોક્ષ વિ०	"
૪૭.	સાતમો	"	દેવસૃષ્ટિ વિ०	"
૫૧.	આઠમો	"	નરકસૃષ્ટિ વિ०	"
૫૫.	નવમો	"	પુણ્ય વિષયક	"
૫૯.	દશમો	"	પરલોક વિ०	"
૬૩.	અગ્યારમો	"	નિર્વાણ વિ०	"

આ અગ્યારે ગણધરોના મનના સંશયનો મહાવીરે જે ખુલાસો કર્યો હતો તેનો ઉલ્લેખ મૂળ નિર્યુક્તિમાં કરવામાં આવ્યો નથી. નિન્હવોની હકીકતનો પેઠે જ એ હકીકત પણ નિર્ણય વગર જ આપવામાં આવેલી છે. ચૂર્ણિમાં ફક્ત પહેલા ગણધરના સંશયનો ખુલાસો કરવાનો થોડોક પ્રયત્ન કરવામાં આવ્યો છે. પણ જિનભદ્ર આ બાબતનો ઘણો ઉત્તમ વિસ્તાર કરે છે. એ વિષય માટે તેમણે ૪૦૦ ઉપરાંત ગાથાઓ લખી છે અને તેના વિવરણમાં ઘણી વિશેષ વાતો આપી છે. હરિભદ્રસૂરિ આ વિવરણમાંથી ઘણાંક અવતરણો પોતાની ટીકામાં લે છે અને એ જ અવતરણો વિશેષાવશ્યક ભાષ્યમાંના ગણધરવાદની ટીકાઓના આધારભૂત બને છે. વઢી હરિભદ્રની ટીકા ઉપરથી કિચ્છિદગ્ગણધરવાદ નામનો પણ એક ગ્રન્થ લખાયો છે, જેમાં કેટલોક વધારે વિસ્તાર કરવામાં આવેલો હોઈ વેદનાં ઘણાં ધર્મો અવતરણો ઉપરાંત છઠ્ઠી અને તે પછી આવતી ગાથામાંની હકીકતનું પણ નિરૂપણ કરેલું છે. આની શ્લોક સંખ્યા લગભગ ૨૫૦ જેટલી છે અને પૂનાના પુસ્તકભંડારમાં નં० ૧૬; ૨૯૧ વાઢી પ્રતના ૨૦ થી ૨૩ મા સુધીના પાનાઓમાં એ લખેલો છે. દશવૈકાલિકની લઘુવૃત્તિમાં પણ સંક્ષેપથી આ વિષય ચર્ચેલો છે.

આ વિષયને લગતા જે કેટલાંક વૈદિક અને દાર્શનિક અવતરણો જિનભદ્ર આપે છે અને તેમનો જે અર્થ જૈન મંતાનુસાર કરે છે તે જાણવાં જેવાં છે. આમાંનાં ઘણાં ધર્મો અવતરણો તો તેમણે ફક્ત

પોતાની ટીકામાં જ આપેલાં છે; પળ તે સ્વોપજ્ઞ ટીકા ઉપલબ્ધ નથી; તેથી હરિભદ્ર, શીલાંક અને હેમચન્દ્ર-કે જેમણે એ સ્વોપજ્ઞ ટીકાનો પોતાની ટીકાઓમાં ઉપયોગ કર્યો છે-તેમણે એ અવતરણો લખેલાં હોવાથી આપણે એ ટીકાઓમાંથી જ તે લેવાનાં છે. ભાષ્યના મૂળમાં જ જે અવતરણો આપેલાં છે તે ખાસ કાઢ્યા અક્ષરોમાં આપવામાં આવ્યાં છે. બાકીનાં કયા ટીકાકારે કયાં અવતરણો લખ્યાં છે તે જુદી જુદી રીતે બતાવવામાં આવ્યાં છે. એ અવતરણો કયા પ્રત્યોમાંથી લેવામાં આવેલાં છે તેનો કાંઈ ઉલ્લેખ ટીકાકારો કરતા નથી. તેથી જેકબના ઉપનિષદવાક્યકોષ અને બીજાં તેવાં વેદસંબંધી પુસ્તકો ઉપરથી ઘણાંકનાં સ્થલોં સ્થલોં કાઢવાનો પ્રયત્ન કર્યો છે. એ તો ચોક્કસ છે કે જે અવતરણો જિનભદ્રે લખ્યાં છે તે ઘણાં પ્રમાણભૂત છે અને તેમના વચ્ચેના બ્રાહ્મણો વાદવિવાદમાં એ વાક્યોની ખૂબ ચર્ચા કરતા હોવા જોઈએ. બ્રાહ્મણોનાં દર્શનશાસ્ત્રોમાં પરસ્પર વિરુદ્ધ વિચાર દર્શાવનારાં એ વાક્યો ઉપરથી દરેક ગણધરનો સંશય ઉભો કરવામાં આવ્યો છે. પ્રસિદ્ધ ઉપનિષદોના મૂળ પાઠો સાથે સરખાવતાં એ વાક્યોમાં જે કેટલીક ભૂલો નજરે પડે છે તેનું કારણ બિનકાઢીપૂર્વક એઓનો ઉપયોગ કરવામાં આવેલો હોવું જોઈએ.

×૨, ૫ (૧૫૫૩).

❖(યદાહુંનાસ્તિકાઃ) *

†૧૩

एतावानेव पुरुषोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।

મદ્રે, ઘૃકપદં પદ્ય યદ્ વદન્તિ બહુશ્રુતાઃ. ૬ ॥ *

I પિબ જ્ઞાદ ચ જ્ઞાણુ જ્ઞોભને યદર્તાતં વરગાત્રિ તન્ન તે ।

ન હિ મીરુ ગતં નિવર્તતે, સમુદયમાત્રમિદં કહેવરમ્ ॥ *

(મદ્રોડપ્યાહ)

× આ અંક તે પ્રો. હ્યુમને પોતાના મૂળ નિબંધમાં વિશેષાવશ્યકભાષ્યના જે ૫ વિભાગો પાડ્યા છે તેના સૂચક છે. એમાં પહેલો અંક પ્રકરણને અને બીજો ગાથાનંબરને સૂચવે છે. આ પછી જે કૌંસમાં આંકડા આપેલ છે તે કાશીની યશોવિજય જૈનપ્રત્યમાલમાં પ્રકટ થયેલ સડીક વિશેષાવશ્યકભાષ્યમાંની ચાલૂ ગાથાસંખ્યા સૂચવે છે. મુદ્રિત પ્રંથમાં ૧૫૪૮ મી ગાથા ય્યાં પૂરી થાય છે ત્યાં ઉક્ત પ્રો. ના વર્ગીકરણ પ્રમાણે પ્રથમ વિભાગ પૂરો થાય છે અને ૧૫૪૯ મી ગાથાથી બીજો વિભાગ શરૂ થાય છે તે ૨૦૨૪ મી ગાથાએ પૂરો થાય છે. એ વિભાગમાં ગણધરવાદ નામનો વિષય આવે છે અને તેની કુલ ૪૭૬ ગાથા છે.

❖-() આવા મોઢ કૌંસમાં આપેલા પાઠો આવશ્યકસૂત્રની હારિભદ્રી ટીકામાં આપવામાં આવેલા નથી; તેમ જ [] આવા ચૌહુણા કૌંસમાં આપેલા પાઠો વિશેષાવશ્યક ભાષ્યની શીલાંકાચાર્યકૃત ટીકામાં આપેલા નથી; એમ સમજવું.

† આ અંકો આવશ્યકની હારિભદ્રી ટીકામાં દરેક ગણધરના માટે જે શંકા-સમાધાનાત્મક અવતરણો આપવામાં આવેલાં છે તેનો ક્રમનિર્દેશ સૂચવે છે. એમાંનો મોટો અક્ષર એ ગણધરની સંખ્યા બતાવે છે અને તેની આગળ જે નાનો અક્ષર છે તે અવતરણની સંખ્યા જણાવે છે.

I આ ચિન્હવાળાં અવતરણો ફક્ત આવશ્યક ચૂર્ણિમાં જ મળી આવે છે.

* આ બન્ને શ્લોકો હરિભદ્રકૃત ષટ્દર્શનસમુચ્ચયના છેવટના લોકાયત પ્રકરણમાં, શ્લોક ૮૧-૮૨, છે (મુદ્રિત પૃ. ૩૦૧, ૩૦૪, કલકત્તા) ત્યાં બીજા શ્લોકનો પ્રથમ પાદ ' પિબ જ્ઞાદ ચ ચારુલોચને ' આ પ્રમાણે છે.

૨. શીલાંકાચાર્યની ટીકામાં 'યદાહુઃ' પાઠ છે. ૩. શી. ટી. 'એકે.' ૪. ચૂર્ણિમાં 'એકે આહુઃ' એટલો જ પાઠ છે.

૫. વિશેષાવશ્યકની હેમચન્દ્રકૃત ટીકાની કેટલીક પ્રતોમાં આના ઠેકાણે ' લોકોડયં ' પાઠ છે. ૬. ચૂ. શી. ૬. હે. ની કેટલીક પ્રતોમાં ' વદન્ત્યબહુશ્રુતાઃ ' પણ પાઠ છે.

૧૧૧૧૦૧

વિજ્ઞાનઘન ધૈતેભ્યો ભૂતેભ્યઃ સમુત્થાય તાન્યેવાનુવિનશ્યતિ, ન પ્રેત્ય સઙ્ગાસ્તિ ।

— મૃદુદારણ્યકોપનિષદ્ ૨, ૪, ૧૨.—આગલ ગાથા ૩૧ અને ૧૩૭, ની ટીકામાં, (મુદ્રિત પૃષ્ઠ ૬૮૦ તથા ૭૨૦ માં) પણ આ અવતરણ આવે છે. તથા ભાષ્યના મૂલમાં, ગાથા ૪૦૨, ૪૧૪, ૪૨૧ (મુ. પૃ. ૬૮૧) માં આ અવતરણ અનુવાદિત છે.

૧૪

(સુગતસ્ત્વાહ)^૭

ન રૂપં ભિક્ષવઃ પુદ્ગલ ઇતિ [આદિ] ❀

અન્યે ત્વાદુઃ

I વાસાંશ્ચી જીર્ણાનિ યથા વિહાય નવાનિ ગૃહ્ણાતિ નરોઽપરાણિ ।

તથા શરીરાણ્યપરાપરાણિ જહાંતિ ગૃહ્ણાતિ ચ પાર્થ જીવઃ ॥^૮

[(તથા ચ વેદઃ)]

૬૨

ન હ વૈ સશરીરસ્ય પ્રિયાપ્રિયયોરપહતિરસ્તિ, અશરીરં વાવ સન્તં પ્રિયાપ્રિયે ન સ્પૃશતઃ ।

—છાન્દોગ્યોપનિષદ્ ૮, ૧૨, ૧.—આગલ (ગાથા) ૪૩.૧૦૩. ૨૫૬. ૩૧૩ ની ટીકામાં (મુદ્રિત પૃષ્ઠ ૬૮૨. ૭૦૬. ૭૫૧. ૭૭૭. માં) પણ આ અવતરણ ઉદ્દત છે. તથા ભાષ્ય—મૂલ ગાથા ૩૧૩૧ = ૪૬૭૧ (મુ. પૃ. ૭૭૭. ૮૩૧) માં આ અવતરણ અનુવાદિત છે.

([તથા] અગ્નિહોત્રં જુહુયાત્ સ્વર્ગકામઃ)

મૈષ્યુપનિષદ્ ૬, ૩૬.—આગલ ગાથા ૪૩. ૧૫. ૨૫૨. ૩૩૪. (મુ. પૃ. ૬૮૨. ૭૦૨. ૭૫૮. ૭૮૪) ની ટીકામાં પુનઃ ઉદ્દત. મૂલ ગાથા ૧૨૨ = ૧૩૬૨ = ૩૧૧૨ = ૪૨૨૨; (મુ. પૃ. ૭૦૦. ૭૨૦. ૮૦૭. ૮૧૪) માં અનુવાદિત. ગાથા ૩૩૪. (મુ. પૃ. ૭૮૪) માં સૂચિત । સરસ્વાતો—હરિભદ્રની આવશ્યકવૃત્તિમાં ચૈત્યવન્દનવૃત્તિ આવ૦ ૫. ૧૧; તથા શાસ્ત્રવાર્તાસમુચ્ચય ૬૦૫, વઢી એ છેલ્લા પ્રન્યના ૧૫૭ માં શ્લોકમાં આના જેવું જ એક અવતરણ છે જે તૈત્તિરીયસંહિતાના ૨ જાની આદિમાં છે.

([કપિલાગમે તુ પ્રતિપાદ્યતે]

૧૫

અસ્તિ પુરુષઃ) અર્કર્તા નિર્ગુણો ભાક્તા^૯ (ચિદ્રૂપઃ)

૭. આના ઠેકાણે ૬૦ માં ' તથા ' પાઠ છે. ૮. ભગવદ્ગીતા ૨, ૨૨ (મહાભારત ૬, ૧૦૦) માં ઉત્તરાર્દ્ધ આ પ્રમાણે છે:—

તથા શસીસ્તથા વિહાય જીર્ણાન્યન્યાનિ સંયાતિ નવાનિ દેહી ॥

— ચૂર્ણિમાં એક બીજું વધારે નીચે પ્રમાણેનું અવતરણ છે:—

કાયા અજો મુત્તો નિચ્ચો કત્તા તહેવ મોત્તા ય ।

તણમેત્તો ગુણવન્તો ઉદ્ધઢ-ગઈ વણિઓ જીવો ॥

સરસ્વાતો—દશવૈકાલિક નિર્યુક્તિ ગાથા ૨૨૭ અને તે પછીની. (મુ. પૃ. ૧૨૧)

૧ સૂત્રકૃતાંગ ૧, ૧, ૧-૧૪ ની ટીકામાં શીલાંકાચાર્ય ' તથા ચોક્ત ' કરીને આ અવતરણ નીચે પ્રમાણે આપે છે:—

૧૭

[નીલવિજ્ઞાનં મે ઉત્પન્નમાર્સાત્] સરસાવો—સર્વદર્શનસંગ્રહ પૃ.

૧૧,૭-૧૦

૨,૩૩(૧૫૬૦).

(એક એવ હિ ભૂતાત્મા ભૂતે ભૂતે પ્રતિષ્ઠિતઃ ।

એકધા બહુધા ચૈવ દૃશ્યતે જલચન્દ્રવત્ ॥^{૧૦}

—બ્રહ્મવિન્દુ-ઉપનિષત્ ૧૨. યશસ્તિલક ચમ્પૂ, આશ્વાસ ૬, કલ્પ ૧. (પૃ. ૨૭૩ નિર્ણયસાગર)

યથાવિશુદ્ધમાકાશં તિમિરોપપ્લુતો જનઃ ।

સઙ્કર્ષર્ણમિવ માત્રાભિર્ભિન્નાભિરભિમન્યતે ॥

તથેદમમલં બ્રહ્મ નિર્વિકલ્પમવિચયા ।

કલુષત્વમિવાપન્નં ભેદરૂપં પ્રકાશતે ॥

“ઊર્ધ્વમૂલમધઃશાશ્વમશ્વત્થં પ્રાહુરવ્યયસ્ ।

છન્દાંસિ યસ્ય પર્ણાનિ યસ્તં વેદ સં વેદવિત્ ॥”

—ભગવદ્ગીતા ૧૫-૧; (મહાભારત ૬-૧૩૮૩.)

૨૧૧

પુરુષ એવેદં મિં † સર્વં યદ્ ભૂતં યચ્ચ ભાવ્યં ।^{૧૧}

ઉતામૃતત્વસ્યેશાનો યદન્નેનાતિરોહતિ ॥

—વાજસનેયી સંહિતા ૩૧, ૨.; શ્વેતાશ્વતરોપનિષદ્ ૧-૧૫.

અકર્તા નિર્ગુણો ભોક્તા આત્મા સાંખ્યનિર્દર્શને ।

સ્યાદ્વાદમજરી, શ્લોક ૧૫ માં મલ્લિષેણ આલો શ્લોક આ પ્રમાણે આપે છે:—

અમૂર્તશ્ચેતનો ભોગી નિત્યઃ સર્વગતોઽક્રિયઃ ।

અકર્તા નિર્ગુણઃ સૂક્ષ્મ આત્મા કાપિલદર્શને ॥ (બનારસ, યશોવિજય જૈન ગ્રન્થમાલા, પૃ. ૧૧૩

ષડ્દર્શનસમુચ્ચયની ટીકામાં ગુણરત્ન પળ આ શ્લોક ઉદ્ધત કરે છે. (જુઓ કલકતા આશ્રિતિ, પૃ. ૧૦૫)

વલી સરસાવો—ષડ્દર્શનસમુચ્ચય, મૂળ શ્લોક ૪૧.

૧૦ બ્રહ્મવિન્દુપનિષદ્ (આનન્દાશ્રમ મુદ્રિત, પૃ. ૩૩૮) માં બીજો પાદ ‘ ભૂતે ભૂતે વ્યવસ્થિતઃ ’ આ પ્રમાણે છે, અને યશસ્તિલક ચમ્પૂ (નિર્ણયસાગર—મુદ્રિત, પૃ. ૨૭૩—ઉત્તર ભાગ) માં બીજા અને ત્રીજા પાદનો પાઠ—‘ દેહે દેહે વ્યવસ્થિતઃ । એકધાનેકધા ચાપિ—’ આ પ્રમાણે છે. વલી, શીલાંકાચાર્યની આચારાંગસૂત્ર ટીકા (આગમોદય યમિતિ મુદ્રિત, પૃ. ૧૮) અને સૂત્રકૃતાંગ સૂત્ર ટીકા (આ. સ. મુ. પૃ. ૧૧) માં પણ આ શ્લોક ઉદ્ધત છે.

૧૧. ઉપનિષદ્માં ‘ ભવ્ય ’ પાઠ ઉપલબ્ધ થાય છે.

† પ્રો. લ્યુમન આ શબ્દ ઉપર એક નોંધે પ્રમાણેની ખાસ નોંધ કરે છે: “કેટલાક પ્રસિદ્ધ ઉપનિષદોમાંથી જૈન ઐશ્વર્યનો લીધેલાં આ અવતરણો સૈકાઓ સુધી બહુ ધ્યાન રેંચાયા વગર જ લખાતાં આવતાં હતાં અને તેથી જૈનોએ કરેલી તેમની નોંધમાં સ્વભાવિકરીતે જ કેટલીક ભૂલો થઈ ગઈ છે. ઉદાહરણ તરીકે—૨^૧ માતું મિં તથા ૭^૨ તું અવતરણ.”—આમાંના પ્રથમ મિં શબ્દ ઊપરની નોટમાં તે લખે છે કે—“ વર્તમાનમાં વૈદિક વાજ્ઞયના હસ્તલિખિત ગ્રન્થોમાં અનુસ્વાર માટે જે ચિન્હ વપરાય છે, તે ૮ માં સૈકા અગર તેની પહેલાં મિં અક્ષર જેનું દેખાતું હશે અને તેથી વૈદિક ચિન્હથી અજાણ એવા જૈન ગ્રન્થકારોએ તેને એક સ્વાસ શબ્દ માની લીધેલો લાગે છે. અને તેથી તેમણે ‘ પુરુષ એવેદં સર્વ ’ એ અસલ વાક્યમાં મિં શબ્દ વધારી ‘દ્વ’ ના ‘દ’ ઉપર બીજો અનુસ્વાર ચઢાવી દીધો હોય એમ જણાય છે.” —પ્રો. લ્યુમનની આ નોંધ અમને જરા વિચારણીય લાગે છે. લિપિભેદના જ્ઞાનના અભાવે એવી ભૂલો થઈ જો કે ઘણી સંભવિત માત્ર જ નથી પણ સુજ્ઞાત છે. દાખલા તરીકે જૈન લિપિમાં ‘ ગ્ગ ’ અક્ષરને

૨૨

યદેજાતિ યન્નૈજાતિ યદ્દુરે યદ્વાન્તિકે ।

યદન્તરસ્ય સર્વસ્ય યદુ સર્વસ્યાસ્ય બાહ્યતઃ ॥^{૧૨}

—વાજસનેયી સંહિતા ૪૦, ૫.

૨,૫૦ (૧૫૧૮). ૧૬

[તથા] શ્રુતૌ [અપિ] ઉક્તં—

અસ્તમિતે આદિત્યે યાજ્ઞવલ્ક્ય ચન્દ્રમસ્યસ્તામિતે શાન્તેઽગ્નૌ શાન્તાયાં
વાચિ કિંજ્યોતિરેવાયં પુરુષઃ ? 'આત્મજ્યોતિઃ સમ્રાઢિ'તિ હોવાચ ।—ચ. આ. ઉપ. ૪, ૩, ૬; આમાના કેટલાંક વાક્યો એ જ ઉપનિષદના
૪, ૩, ૨ માં પણ આવે છે. માધ્યમી મૂલ ગાથા ૨, ૫૦ માં પણ આ અવતરણ
અનુવાદિત છે.

૨,૯૫ (૧૬૪૩).

(સ સર્વવિદ્ યસ્યૈષા મહિમા ભુવિ દિવ્યે ।

બ્રહ્મપુરે શ્લેષ વ્યોમ્ન્યાત્મા સુપ્રતિષ્ઠિતઃ ॥^{૧૩}

—મુળકોપનિષદ્, ૨, ૨, ૭. પૂર્વાર્ધ.

તમશ્ચરં વેદયતેઽથ યસ્તુ સ સર્વજ્ઞઃ સર્વવિત્ સર્વમેવાવિવેશ ॥^{૧૪}

—પ્રશ્નોપનિષદ્, ૪, ૧૧. ઉત્તરાર્ધ.

અકયા પૂર્ણાહુત્યા સર્વાન્ કામાનવાપ્રોતિ ।^{૧૫}

—સરખાવો, તૈ. બ્રા. ૩, ૮, ૧૦, ૫.

બદલે ઘળા ભાગે જૂના લહિઆઓ ' પ્ર ' આવા રૂપમાં લખતા. એ રૂપને બરાબર ન સમજવાથી પ્રો. વેબરે બર્લિન લાઈ-
બ્રેરીના મ્યેઝુસ્ક્રિપ્ટ્સ કેટલોંગમાં ' સમુગ્ગય ' જેવી શબ્દોની રોમન જોડણી : ' Samugrya ' આવી છોડી કરી ઘળો
ઘોંટાઢો ઉભો કર્યો છે. એવી જ રીતે બીજા વિદ્વાનોના હાથે પણ ભ્રમ થઈ શકે તે સ્પષ્ટ છે. પણ અમને
અહિં બીજી રીતે એ નોંધ વિચારણીય લાગે છે; અને તે એ છે કે આવશ્યકટીકા કર્તા હરિભદ્રસૂરિને
વૈદિક સાહિત્ય કે તેના સંકેતથી અપરિચિત મानी શકાય તેમ નથી. કારણ કે તે પોતે જૈન દીક્ષા લીધા પહેલાં જાતિ
બ્રાહ્મણ અને વિદ્યાએ સર્વશાસ્ત્ર નિષ્ણાત હતા, એ સુવિશ્રુત છે. અને જો તે વાત બાણુએ મૂકીએ તો પણ તેમણે જુદા જુદા
દર્શનો અને મતોના વિષયમાં જે અનેકાનેક અપૂર્વ અને ગહન પ્રશ્નો લખ્યા છે; તેમ જ સાંખ્ય, વેદાંત, ન્યાય, મીમાંસા આદિ
વૈદિક સંપ્રદાયોની જે સૂક્ષ્મ રીતે આલોચના-પ્રત્યાલોચના કરી છે તે જોતાં સ્પષ્ટ જણાય છે કે તેઓ વેદ, બ્રાહ્મણ,
સૂત્ર, સ્મૃતિ અને ઉપનિષદોના ઘળા ઝંઙા અભ્યાસી અને જ્ઞાતા હતા. તેથી તેમના જેવા વિદ્વાન્ આવા આવાલ-પ્રસિદ્ધ અનુ-
સ્થારના ચિન્હને ન સમજી શકે અને તેને કાંઈ બીજું જ કલ્પી લે, એ માનવું બિલ્કુલ અશક્ય છે. હરિભદ્રસૂરિ
આ શબ્દને ' મિ ' કહે છે અને એને વાક્યાલંકાર રૂપે ઉક્ત વાક્યમાં વપરાયેલો લખે છે.—(મિમિતિ વાક્યા-
લંકારે—આવશ્યકસૂત્ર, આ. સ. પૃ. ૨૪૪) વર્તમાન ઉપનિષદોમાં પણ પાઠ—મેદ અને પાઠ—ફેર કયાં ઓછ
થયેલા છે જેથી આપણે જૈન વિદ્વાનોના આવા પાઠાન્તરોને એકલમ ભ્રમોત્પન્ન કહી શકીએ.

૧૨. ઈશાવાસ્યોપનિષદમાં પણ આ શ્રુતિ આવેલી છે અને ત્યાં 'યદ્' ના ઠેકાણે સર્વત્ર 'તદ્' પાઠ મળે છે.

૧૩. ઉપલબ્ધ ઉપનિષદમાં વર્તમાન પાઠ આ પ્રમાણે છે:—

યઃ સર્વજ્ઞઃ સર્વવિશ્વસ્યૈષ મહિમા ભુવિ । દિવ્યે બ્રહ્મપુરે શ્લેષ વ્યોમ્ન્યાત્મા પ્રતિષ્ઠિતઃ ॥

૧૪. વર્તમાન પાઠ આ પ્રમાણે—

તદ્શ્ચરં વેદયતે યસ્તુ સોમ્ય સ સર્વજ્ઞઃ સર્વમેવાવિવેશેતિ ।

—હરિભદ્રસૂરિએ શાસ્ત્રવાર્તાસમુચ્ચય, ૬૨૪, માં પણ આ અવતરણો સૂચવેલ છે (મુદ્રિત પૃ. ૩૯૫).

૧૫. હરિભદ્રસૂરિએ પોતાની લલિતવિસ્તરા નામે ચૈત્યવન્દનશ્રુતિ ૫-૧૧ (મુદ્રિત પૃ. ૧૧૧) માં પણ આ
અવતરણ ઉદ્ધરેલ છે. —તૈત્તિરીય બ્રાહ્મણ ૩, ૮, ૧૦, ૫, માં આને મઝ્ઝતી હકીકતનો આ પ્રમાણે ઉલ્લેખ આવેલો છે:—

एष वः प्रथमो यज्ञो योऽग्निष्टोमः, योऽनेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते, स गर्तमभ्यपतत् ।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण १६, १, २.

द्वादश मासाः संवत्सरो—^१

—तै० सं० ५, २, ५. ५.

अग्निरुष्णो—

अग्निर्हिमस्य भेषजं—^{१७}

—वा० स० सं० २३, १०=तै० सं० ७, ४, १८, २.

२, १०१ (१६४९). ३२

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष

ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

ज्योतिर्मयो हि शुद्धो

यं पश्यन्ति धीरा यतयः संयतात्मानः ॥ ^{१८}

—मुण्ड० उ० ३, १, ५. हेमचन्द्र वळी २, १३७ मी गाथानी टीकामां पण आ अवतरण टांके छे.

२, १२६ (१६७४).

(एक विज्ञानसन्ततयः सत्त्वाः ।

[यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्]) ^{१९}

([क्षणिकाः सर्वसंस्काराः]) ^{२०}—आ वाक्य अभयदेवसूरिण भग-

वती सूत्रनी टीका ३०, १ मां तथा मलयगिरिण नान्द्रिसूत्रनी टीकामां पण टांकेछं छे. वळी शुओ षड्दर्शनसमुच्चयनी गुणरत्नकृत टीका १.

२, १४१ (१६८९). ४^१

स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेयः ।

द्यावा पृथिवी ।

पृथिवी देवता [आपो देवता]—शीलाकाचार्य आ अवतरण आ पछीनी गाथामां आपे छे.

२, २२४ (१७७२). ५^१

पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते, पशवः पशुत्वम् । —हेमचन्द्र आ अवतरण

यो दीक्षामतिरेचयति । सप्ताहं प्रचरन्ति । सप्त वैशीर्षिण्याः प्राणाः । प्राणा दीक्षा । प्राणैरेव प्राणां दीक्षामवरुन्धे । पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति । सर्वं वै पूर्णाहुतिः । सर्वमेवाप्नोति । अथो इयं वै पूर्णाहुतिः । अस्यामेव प्रतितिष्ठति ।

१६. आखं वाक्य आ प्रमाणे छे—‘ द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरेणैवास्या अन्नं पचति यदग्निचित् । ’

१७. पूर्व अवतरण आ प्रमाणे—‘ सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः । अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥

१७. उपनिषद्मां उपलब्ध पाठ आ प्रमाणे छे—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

१९. द्रष्टव्य—चन्द्रप्रभसूरिकृत प्रमेयरत्नकोष ८, पृ. ३० । —महापण्डित रत्नकीर्तिकृत क्षणभङ्गासिद्धिप्रकरण (विम्लिओधिका इण्डिका) पृ० ५४, मां आ वाक्य ‘यत् सत् तत् क्षणिकम्’ आ प्रमाणे छे. वळी, शुओ रत्नप्रभकृत रत्नाकरावतारिका परिच्छेद ५, (यशोविजय जैनग्रन्थमाला मुद्रित, पृ० ७६)

२०. ए आखो श्लोक आ प्रमाणे छे—

क्षणिकाः सर्वे संस्कारा अस्थितानां कुतः क्रिया । भूतियथा क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥

५२ २, २५२—चाख गाथा १८००—मां पण आपे छे.
शृगालो वै एष जायते यः सपुत्रीषो दहते ।

आ अवतरण वळी आगळ २, २५२—चाख गाथा १८००—
नी टीकामां आवे छे; तथा मूळ भाष्य २, २५२ मां पण सूचित छे.
२, २५२ (१८००). [(अग्निष्टोमेन यमराज्यमभिजयति ।)]
—मैत्र्युपनि० ६, ३६.

२, २५६ (१८०४). ६१ स एष विगुणो विभुर्न बद्धयते संसरति वा,
न मुच्यते मोचयति वा । —सरस्वातो सांख्यकारिका ६२.
न वा एष बाह्यमभ्यन्तरं वा वेद ।
—सरस्वातो, बृहदारण्यकोपनिषद् ४, ३, २१.

२, ३१८ (१८६६). ७१ स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति ।
—शतपथ ब्राह्मण १२, ५, २, ८. वळी शीलांकाचार्य आगळ २, ४०३—
चाख गाथा १९५१—नी टीकामां पण आ अवतरण छे छे.

७२ अपास सोमाम्, अमृता अभूम्,
अगमन् ज्योतिः, अविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान् तृणवदरातिः,
किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥

ऋग्वेद संहिता ८, ४८, ३; तथा अथर्वशिरा उपनि० ३. २१

७३ [को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्र-यम-वरुण-कुबेरा-
दीन् ?]—वळी २, ३३४—चाख गाथा १८८२—नी टीकामां पण आ
अवतरण छे.

२, ३३५ (१८८३). (उक्थ-षोडशि-प्रभृति-क्रतुभिः यथाश्रुति यम-सोम-सूर्य-सुर-
मुखस्वाराज्यानि जयति ।

—सरस्वातो, मैत्र्युपनिषद्, ६, ३६. अहीं मूळ भाष्यमां आ अवतरण
अनुवादित छे. २२

[(इन्द्र आगच्छ मेधातिथे मेषवृषण)]

—तैत्तिरीय आरण्यक १, १२, ३; शतपथ ब्राह्मण ३, ३, ४, १८. (आखुं वाक्य
आ प्रमाणे—'इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेः । मेष वृषणस्य मेने ।')

२, ३३९ (१८८७). ८१ [नारको वै एष जायते यः शूद्रात्रमश्नाति ।

२१. उपनिषद्मां वर्तमान पाठ नीचे प्रमाणे छे—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।

किमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतं मर्त्यं च ॥ (-- आनन्दाश्रममुद्रित, पृ० १०)

२२. उपनिषद्मां आ वावतनो नीचे प्रमाणे उल्लेख मळे छे—'अग्निहोत्रं जुहुयात्सर्वर्गकामो यमराज्यमग्निष्टोमेनाभि-
जयति सोमराज्यमुक्थेन, सूर्यराज्यं षोडशिना, स्वाराज्यमतिरात्रेण, प्राजापत्यमासहस्रसंवत्सरान्तक्रतुनेति ।' आनन्दाश्रम
मुद्रित, पृ० ४५७.

૮^૨

૨, ૩૬૦ (૧૯૦૮).

ન હ વૈ મેત્ય નરકે નારકાઃ સન્તિ ॥]

(કેનાસ્થિતાનિ નયનાનિ મૃગાઙ્ગનાનાં

કો વા કરોતિ વિવિધાઙ્ગરુહાન્ મયૂરાન્ ।

કશ્ચોત્પલેષુ દલસન્નિષયં કરોતિ

કો વા દધાતિ વિનયં કુલજેષુ પુંસુ ॥) ૨^૩

સરસ્વાતો, અશ્વઘોષકૃત બુદ્ધ ચરિત, કાવેલસંપાદિત પૃ. ૭૭.

૨^૩

પુણ્યઃ પુણ્યેન [(કર્મણા) પાપઃ પાપેન કર્મણા]

—બૃહ ૦ આ ૦ ૩૫૦ ૪, ૪, ૫. હેમચંદ્રસૂરિ આ અવતરણ ૨, ૧૫—ચાલુ

ગાથા ૧૬૪૩—ની ટીકામાં લે છે.

૨, ૪૦૩ (૧૯૫૧). ૧^૨ ૧૦^૨

સ વૈ અયમાત્મા જ્ઞાનમયઃ । —બૃ ૦ આ ૦ ૩૦ ૪, ૪, ૫.

૨, ૪૨૬ (૧૯૭૪) ૧૧^૧

જરામયં વા એતત્સર્વં યદગ્નિહોત્રસૂ ।

તૈ ૦ આ ૦ ૧૦, ૬૪. મહા. ના. ૩૫. વઢી હેમચંદ્ર ગાથા ૨, ૪૭૫—ચાલુ ગા ૦

૨૦૨૩—ની ટીકામાં પણ આ અવતરણ લે છે.

૧૧^૨

દ્વે બ્રહ્મણી [વેદિતવ્યે] પરમપરં ચ [તત્ર પરં સત્યમ્; જ્ઞાનમનન્તરં

બ્રહ્મ] —સરસ્વાતો, મૈત્ર્યુપનિષદ્ ૬, ૨૨; =બ્રહ્મવિન્દૂપનિષદ્ ૧૭.

(સૈષા ગુહા દુરવગાહા)

૨, ૪૨૭ (૧૯૭૫).

(યથાહુઃ [સૌગતવિશેષાઃ કેચિત્ તદ્ યથા]

દીપો યથા નિર્વૃત્તિપશ્યુપેતો નૈવાવર્તિ ગચ્છતિ નાન્તરિશ્ચ ॥

૨૩. હેમચંદ્રસૂરિ, ગાથા ૧૬૪૩ની ટીકામાં, આ પદ્યગત ભાવને જણાવનારા નીચે પ્રમાણેના ત્રણ શ્લોકો આપે છે—

સર્વહેતુનિરાશંસં ભાવાનાં જન્મ વર્ણ્યતે । સ્વભાવાદિભિસ્તે હિ નાહુઃ સ્વમપિ કારણમ્ ॥

રાજીવકણ્ઠકાદીનાં વૈવિધ્યં કઃ કરોતિ હિ । મયૂરચન્દ્રિકાદિર્વા વિચિત્રઃ કેન નિર્મિતઃ ॥

કાદાચિત્કં યદત્રાસ્તિ નિઃશેષં તદહેતુકમ્ । યથા કણ્ઠકૈતૈદ્વિદ્યાદિ તથા ચૈતે સુખાદયઃ ॥

—સૂત્રકૃતાઙ્ગસૂત્રની ટીકામાં શીલાંકાચાર્ય (મુદ્રિત પૃ ૦ ૨૧ આ. સ.) આવી જ મતલબવાઝો એક અન્ય શ્લોક આપે છે—

કણ્ઠકસ્ય ચ તીક્ષ્ણત્વં, મયૂરસ્ય વિચિત્રતા । વર્ણાશ્ચ તામ્રચૂઞાનાં, સ્વભાવેન ભવન્તિ હિ ॥

૨૪. આચારાઙ્ગસૂત્રની ટીકામાં શીલાંકાચાર્ય (આ. સ. મુ. પૃ. ૧૭) આ ઉપરના પદ્યની સાથે અશ્વઘોષવાહું પદ્ય તથા એક ત્રીજું પણ અન્ય પદ્ય આપે છે. યથા—

‘ કઃ કણ્ઠકાનાં પ્રકરોતિ તૈદ્વિધ્યં વિચિત્રભાવં મૃગપક્ષિણાં ચ ।

સ્વભાવતઃ સર્વામિદં પ્રવૃત્તં, ન કામચારોઽસ્તિ કુતઃ પ્રયત્નઃ ॥ ’ —(બુદ્ધચરિત. ૧-૫૨)

સ્વભાવતઃ પ્રવૃત્તાનાં નિવૃત્તાનાં સ્વભાવતઃ । નાહં કર્તેતિ ભૂતાનાં, યઃ પશ્યતિ સ વક્ષ્યતિ ॥

—શાન્ત્યાચાર્યે ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર અધ્યયન ૨૫ માની ટીકામાં આ અને વાજાં કેટલાંક અક્તરણો (ઉદાહરણાર્થ ભગવ-
દ્ગીતા ૧૮, ૪૨) ઉદ્ધૃત કરેલો છે; તેમ જ આવી જ જાતનાં વીજાં પણ કેટલાંક અવતરણો (ઉદાહરણાર્થ—મહાનારાયણો-
પનિષદ્ ૧૦, ૫; =કૈવલ્ય ૩૦ ૨; અને વાજસનેયી સંહિતા ૩૧, ૧૮—શ્વેતાશ્વતરોપનિષદ્ ૩, ૮) તેમજ અધ્યયન ૧૨,
ગાથા ૧૧-૧૫ ની ટીકામાં આપેલાં છે.

દિશં ન કાશ્ચિદ્ વિદિશં ન કાશ્ચિન્ શ્લેક્ષયાત્કેવલમેતિ શાંતિષ્ ।

જીવસ્તથા નિર્વૃત્તિમ્મ્યુપતો નૈવાવર્તિ ગચ્છતિ નાન્તરિક્ષ્ ।

દિશં ન કાશ્ચિદ્ વિદિશં ન કાશ્ચિન્ શ્લેક્ષયાત્કેવલમેતિ શાંતિષ્ ॥

— યશ્ચસ્તિલક્ષ્ ચમ્પૂ ૬, ૧ માં પળ આ શ્લોકો આપેલા છે. પળ ત્યાં ચરણવ્યતિક્રમ થયેલો નજરે પડે છે.

એક અવતરણ વાઙી આવેલું છે જે ઉપરના ૧^૧ વાઙા અવતરણ સાથે સંબંધ ધરાવતું હોય તેમ જણાય છે, અને હેમચન્દ્રના લખવા ઉપરથી તે કોઈ ઉપનિષદની ટીકામાંનું (ઉદા. બૃહદારણ્યક ઉપનિષદ) હોય તેમ માલુમ પડે છે. જિનમદ્ર પૂછતાં તે આ પ્રમાણે નોંધે છે.

૪૦. ગોયમ, વેય-પયાણં હમાણમત્થં ચ તં ન યાણાસિ ।

જં વિન્નાણઘણો ત્તિવય મૂળહિતો સમુત્થાય ॥

૪૧. મન્નાસિ મજ્જંગેસુ ધ મયમાવો મૂય-સમુદય-મ્મૂઓ ।

વિન્નાણમેત્તં આયા મૂડણુ વિણસ્સહ સ મ્મૂઓ ॥

૪૨. અત્થિ ન ય પેચ્ચન્ના જં પુવ્વમવેડમિહાણં ‘અસુગો’ સ્તિ ।

જં મણિયં ન મવાઓ મવન્તરં જાહ જીવો સ્તિ ॥

છેવટની ગાથામાંના વાક્ય ઉપર હેમચન્દ્ર આ પ્રમાણે ટીકા કરે છે—‘કિમિહ વાક્યે તાત્પર્ય-વૃત્ત્યા પ્રોક્તં ભવતિ—इत्याह—सर्वथात्मनः समुत्पद्य विनष्टत्वात् न भवान्तरं कोऽपि यातीत्युक्तं भवति ।’ જ્યારે શીલાંક પોતાની હમેશની વિરલ-વ્યાખ્યાપદ્ધતિ પ્રમાણે એટલું જ લખે છે કે—‘एवं न भवाद् भवान्तरमस्तीत्युक्तं भवति ’

વિશેષાવશ્યક ૨, ૨૨૬ માં વનસ્પતિ અને પ્રાણી વિદ્યા સંબંધી અન્ધવિશ્વાસ સૂચવનારાં એક—બે અવતરણો આવે છે, તે પળ હું આની પૂરવણી રૂપે અહીં નોંધી લેવા ઇચ્છું છું. એ અવતરણોનો વિષય, સદૃશસાંથી સદૃશની જ ઉત્પત્તિ થઈ શકે, એવો કોઈ નિયમ નથી; એ છે એના ઉપર ટીકા-કારે ખૂબ વિવેચના કરી છે. એ અવતરણ વાઙી ગાથાઓ આ પ્રમાણે છે:—

૨૨૬. જાહ સરો સંગાઓ મૂતળઓ સાસવાણુલિતાઓ ।

સંજાયહ ગોલોમાવિલોમ-સંજોગઓ દુઘ્વા ॥

૨૨૭. ઇતિ રુક્ષાઝવ્વેદે, જોણિવિહાણે ય વિસરિસેહિતો ।

દીસહ જમ્હા જમ્મં, સુધમ્મ, તં નાયમેગન્તો ॥

સરસ્વતો, પંચતન્ત્ર શ્લોક ૧, ૧૦૭. એ ઠેકાણે કવિસંપ્રદાયની પદ્ધતિ વાદ કરતાં ઉપરના અન્ધવિશ્વાસવાળા અવતરણમાંની ત્રીજી હકીકતનો ઉલ્લેખ કરેલો છે —જેપ્રકે ‘દુર્વા પિ ગોલોમતઃ’ । આ અવતરણમાંની પહેલી હકીકત કે ‘શૃંગપ્રાંથી શર ઉત્પન્ન થાય છે’ તેનો ઉલ્લેખ વાર્તાના રૂપમાં એક પ્રત્યેકબુદ્ધની કથામાં આવે છે. ત્યાં જળાઘ્યા પ્રમાણે એક શંખની સોપરી, આંસ અને મોઢામાંથી વાંસના ત્રણ ફળગા નીકળ્યા હતા. આ ગાથામાં જે યોનિવિધાન શબ્દ આવેલો છે તેનો અર્થ ટીકા-કારે લખ્યા પ્રમાણે ‘યોનિપ્રામૃત’ છે અને એ નામ એક પ્રન્યનું છે જે પૂનાના કેટલોંગમાં નં. ૧૬, ૨૬૬; તથા ૨૧, ૧૨૪૨ માં નોંધેલો છે.

स्वाध्याय-समालोचन

आगरे के श्रीआत्मानन्द पुस्तक प्रचारक मंडलने एक महत्त्वके ग्रन्थका प्रकाशन किया है। इसका नाम है पातञ्जल योगदर्शन। यों तो पातञ्जल योगदर्शन के अनेक संस्करण, अनेक स्थानोंसे, अनेक रीतिसे और अनेक भाषाओंमें प्रकट हो चुके हैं लेकिन हम जो इस संस्करणको महत्त्वका कहते हैं उसका खास कारण यह है कि इस संस्करणमें जो व्याख्या प्रकट हुई है वह संस्कृतसाहित्यके ज्ञाताओंके लिये एक विशेष वस्तु है। पातञ्जल योगदर्शन एक वैदिक संप्रदाय है। ब्राह्मण संप्रदायके जो छ दर्शन गिने जाते हैं उनमें इसका विशिष्ट स्थान है। सांख्य और योग ये दोनों दर्शन युगलरूपसे व्यवहृत होते हैं और सब दर्शनोंमें प्राचीन हैं। असलमें सांख्य दर्शनका ही एक विशेषरूप योग दर्शन है। सांख्य दर्शनमें ईश्वरस्वरूप किसी व्यक्ति या तत्त्वका अस्तित्व नहीं माना जाता और योगदर्शनमें उसको आश्रय दिया गया है—इतना ही इनमें मुख्य भेद है। जैन और बौद्ध दर्शनमें ऐसे अनेक तत्त्व और सिद्धान्त हैं जो सांख्य और योग दर्शनके तत्त्व और सिद्धान्तोंके साथ समता रखते हैं। इस लिये बहुत प्राचीन कालसे जैन और बौद्ध विद्वानोंको सांख्य और योग दर्शनके अध्ययन और मननका परिचय रहा है। इसी परिचयका उदाहरण स्वरूप यह प्रस्तुत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें पातञ्जल योगदर्शनके सूत्रों पर जैन धर्मके एक अति प्रसिद्ध और महाविद्वान् पुरुषने व्याख्या लिखी है वह प्रकट की गई है। व्याख्याकार है न्यायाचार्य महोपाध्याय श्रीयशोविजय गणी। इस व्याख्यामें महोपाध्यायजीने पातञ्जल योगसूत्रोंका जैन प्रक्रियाके अनुसार अर्थ किया है। व्यासकृत मूल भाष्यके विचारोंके साथ जहां जहां अपना मतभेद मालूम दिया वहां उपाध्यायजीने बड़ी गंभीर भाषामें अपने विचारका समर्थन और भाष्यकारके विचारोंका निरसन किया है और यही इस व्याख्याकी खास विशिष्टता है।

इस ग्रन्थका संपादन विद्वद्भार्य पं सुखलालजीने किया है। जहां तक हम जानते हैं, जैन साहित्यमें अभी तक कोई तात्त्विक ग्रंथ ऐसी उत्तम रीतिसे संपादित हो कर प्रकट नहीं हुआ। ग्रन्थके महत्त्व और रहस्यको समझानेके लिये पंडितजीने परिचय, प्रस्तावना और सार इस प्रकारके तीन निबन्ध हिन्दी भाषामें लिखकर इसके साथ लगाये हैं जिनके पढ़नेसे एक ग्रन्थके पूर्ण अभ्यासके लिये जितने अंतरंग और बाह्य प्रश्नोंकी आवश्यकता होती है, उन सबका ज्ञान पूरी तरहसे हो जाता है। परिचय नामक निबन्धमें, पंडितजीने योगसूत्र, योगवृत्ति, योगविशिका आदिका परिचय कराया है और प्रस्तावनामें जैन और योगदर्शनकी तुलना तथा तद्विषयक साहित्यका विवेचन किया है। यह प्रस्तावना कैसी महत्त्वकी और कितने पांडित्यसे भरी हुई है इसका खयाल तो पाठकोंको इसके पढ़ने ही से आ सकता है और इसी लिये हमने इस सारी प्रस्तावनाको इसी अंककी आदिमें उद्धृत की है।

इस पुस्तकमें योगदर्शनके सिवा एक योगविशिका नामका ग्रन्थ भी सम्मिलित है जो मूल हरिभद्रसूत्रिका बनाया हुआ है और उस पर टीका सङ्गृहीत यशोविजयजीने की है। जैन दर्शनमें 'योग' को क्या स्थान है और उसकी क्या प्रक्रिया है यह जानने के लिये यह योगविशिका बहुत ही उपयोगी है।

पुस्तके अंतमें योगसूत्रवृत्ति और योग विशिकावृत्ति का हिन्दी सार दिया है जिससे संस्कृत न जानने वाले भी इन ग्रन्थगत पदार्थोंको सरलतासे समझ सकते हैं। इस पुस्तकका ऐसा उपयुक्त संस्करण निकालनेके लिये संपादक महाशय पं. सुखलालजी तथा मंडलके उत्साही संचालक श्रीयुत बाबू दयालचंदजी—दोनों सज्जन विद्वानोंके विशेष धन्यवादके पात्र हैं।

जैन साहित्य संशोधक ग्रंथमाला

अध्यापक काँवेल लिखित

प्राकृत व्याकरण—संक्षिप्त परिचय

संपादक

मुनि जिनविजयजी

एम्. आर्. ए. एम्.

(आचार्य—गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर—अमदाबाद)

(जैन साहित्य संशोधक—खण्ड २, अंक १—परिशिष्ट)

प्रकाशक

जैन साहित्य संशोधक कार्यालय

भारत जैन विद्यालय—पूना शहर.

નિવેદન

આ પ્રાકૃત વ્યાકરણ સંક્ષિપ્ત-પરિચય, કેંબ્રીજ યુનિવર્સિટીના એક વખતના સંસ્કૃતના અધ્યાપક અને એડીનબર્ગ યુનિવર્સિટીના ઑનરરી એલ્એલ્. ડી. શ્રી ઈ. બી. કૉવેલે લખેલા A SHORT INTRODUCTION TO THE ORDINARY PRAKARIT OF THE SANSKRIT DRAMAS નામના નિબંધનો અવિકલ ગુજરાતી અનુવાદ છે. જેમને સંસ્કૃત ભાષાનો સાધારણ અભ્યાસ હોય અને જેઓ પ્રાકૃત ભાષાનો ટુંક પરિચય કરવા માંગતા હોય તેમને આ નિબંધ ઘણો મહત્ત્વ કર્તા થઈ પડે એવો જણાયાથી, આ રૂપમાં પ્રકટ કરવામાં આવે છે. આ નિબંધ મૂળ સન્ ૧૮૫૪ માં મજકુર પ્રોફેસરે વરુચ્છિકૃત પ્રાકૃત પ્રકાશ ની જ્યારે પ્રથમ આવૃત્તિ પહાર પાડી હતી તેની પ્રસ્તાવના રૂપે લખ્યો હતો. અને પછી ૧૮૭૫ માં કેટલાક સુધારા-વધારા સાથે, લંડનની TRUBNER and Co. એ એક પુસ્તિકાના રૂપમાં એને જુદો છપાવ્યો હતો. એ પુસ્તિકા આજે દુર્લભ હોઈ બુકસેલરો તેની ૩-૪ રૂપિયા જેટલી કિંમત લે છે. તેથી ગુજરાતી ભાષાભિજ્ઞ વિદ્યાર્થીઓને આ નિબંધ સુલભ થઈ પડે તેવા હેતુથી આ પત્રના પરિશિષ્ટ રૂપે પ્રકટ કરવામાં આવે છે. આશા છે કે સંશોધકના વાંચનારાઓને તેમજ અન્ય તેવા અભ્યાસિઓને આ પ્રયાસ ઉપયોગી થઈ પડશે.

જ્યેષ્ઠ પૂર્ણિમા, ૧૯૭૬.

-સંપાદક

અધ્યાપક કાવેલ લિખિત

પ્રાકૃત વ્યાકરણ-સંક્ષિપ્ત પરિચય

ઈ. સ. પૂર્વેના સૈકાઓમાં, ભારતવર્ષમાં સંસ્કૃત ભાષામાંથી અપભ્રંશ થઈને કેટલીક ભાષાઓ (બોલીઓ) ઉત્પન્ન થઈ જેને સાધારણ રીતે પ્રાકૃત કહેવામાં આવે છે. આ ભાષાઓની શોધ ખોળેનો વિષય ભાષાશાસ્ત્રીને તેમજ ઇતિહાસ લખકને ઘણો રસ આપી શકે તેમ છે. હાલની પ્રચલિત ભાષાઓ અને મહા સંસ્કૃત વચ્ચે સંબંધ જોડી શૃંખલાનું કામ બનાવનાર આ પ્રાકૃત ભાષાઓનું (અને ખાસકરીને 'પ્રાકૃત' નામક ભાષાનું) જ્ઞાન હાલમાં વપરાતાં કેટલાંક રૂપો સમજવાને ઉપયોગી છે એટલું જ નહિ, પરંતુ તેઓ ભાષાસંઘની એક ઇંડો-ચુરોપીઅન શાખાના ઇતિહાસમાં પ્રકાશ પાડે છે, તથા લેટીનમાંથી ઉત્પન્ન થયેલી આધુનિક ઇટાલીઅન અને ફ્રેંચ ભાષાઓ સરખાવતાં જે સ્વરમાધુર્યનું આપણને જ્ઞાન થાય છે તે માધુર્યના નિયમોના અનુપમ દ્રષ્ટાંતો પૂરાં પાડે છે. તદુપરાંત બાળ ઘણા રસોત્પાદક ઐતિહાસિક પ્રશ્નો સાથે પ્રાકૃત ભાષાનો નિકટનો સંબંધ છે. સાલોનના બોદોનાં તથા ભારતવર્ષના જૈનોનાં ધર્મપુસ્તકોની ભાષાઓ પ્રાકૃતનાં ભિન્ન ભિન્ન રૂપો છે; અને ખરેખર ગ્રાંથોની સંસ્કૃતનો વિરોધ દર્શાવીને જનસમાજના હૃદય ઉપર સચોટ અસર કરવા માટે બૌદ્ધ ગ્રંથોમાં પાલિ ભાષાનો ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છે. જ્યારે અલેક્ઝાન્ડરના આધિપત્ય તળે ગ્રીક લોકો ભારતવર્ષના સંબંધમાં આવ્યા ત્યારે પ્રાકૃત ભાષા જનસમાજમાં પ્રચલિત હશે. જેમાં ઈ. સ. પૂર્વે લગભગ ૨૫૦ વર્ષના ઍન્ડ્રીઓકસ અને બીજા ગ્રીક રાજાઓનાં નામો આવે છે એવા અશોક રાજાના શિલાલેખોની ભાષા પણ એક જાતની પ્રાકૃતજ છે; તે જ પ્રમાણે મેકડોનીયાના ગ્રીક રાજાના દ્વિભાષિક સિક્કાઓ ઉપર પણ પ્રાકૃત ભાષા લખેલી જોવામાં આવે છે. જુના હિંદુ નાટકોમાં પણ આ ભાષાઓનો હિસ્સો યોગ્ય નથી; કારણ કે તેમાં મુખ્ય નાયકો સંસ્કૃતનો ઉપયોગ કરે છે, પણ સ્ત્રીઓ અને સેવકો જુદી જુદી જાતની પ્રાકૃત ભાષા વાપરે છે, જેમાંના પરસ્પર ફેરફારો બોલનારની કક્ષાપ્રમાણે, સ્વરમાધુર્યના નિયમનું અનુસરણ કરે છે.

વૈશ્યાકરણો 'પ્રાકૃત' શબ્દને પ્રકૃતેઃ ભવં પ્રાકૃતં એમ જણાવી પ્રકૃતિ એટલે સંસ્કૃત સાથે સંબંધ જોડે છે. આ વિષયમાં હેમચંદ્રે નીચેપ્રમાણે જણાવ્યું છે: પ્રકૃતિ સંસ્કૃતં તત્ર ભવં તત્ર આગતં વા પ્રાકૃતમ્ । પણ મૂળ તેના અર્થ 'સાધારણ' અગર 'અસંસ્કારી' એવા હશે, કારણ કે મહાભારતમાં એક સ્થળે ગ્રામ્યજ્ઞોનો ધિક્કાર કરવો નહિ એમ જણાવી લખ્યું છે કે:—

દુર્વેદા વા સુર્વેદા વા પ્રાકૃતાઃ સંસ્કૃતાસ્તથા ॥

લગભગ આધુનિક વૈશ્યાકરણો 'પ્રાકૃત' નામ તળે ઘણી ભાષાઓનો સમાવેશ કરે છે, પરંતુ તેમાંની ઘણી ખરા પાછળથી થયેલાં કુલ્લક રૂપાંતરો માત્ર છે. જેમ જુનો વૈશ્યાકરણ તેમ તેના ગ્રંથમાં થોડી પ્રાકૃત ભાષાઓ. તેજ પ્રમાણે ઘણા પુરાણા વૈશ્યાકરણ વરરચિયો ક્રંત ચાર જ પ્રાકૃત ભાષાઓનું વિવેચન કર્યું છે, જેવી કે મહારાષ્ટ્રી, પૈશાચી, માગધી, અને શૌરસેની. આમાંથી પહેલી એટલે મહારાષ્ટ્રી ભાષાને તેણે વિશેષ મહત્વની ગણી છે; તથા લેસન સાહેબે પણ પોતાના

૧. પૈશાચી ભાષા ખાસ ઉપયોગી છે કારણકે વૃહત્કથા તે ભાષામાં લખાયેલી છે.

‘ ઇન્સ્ટીટ્યુશન્સ ’ નામના લેખમાં તેને જ મુખ્ય ગણી છે. વરરૂચિના પ્રાકૃત પ્રકાશમાં પ્રથમ નવ પ્રકરણોમાં તેનું વ્યાકરણ આપવામાં આવ્યું છે; અને બાકીનાં ત્રણ પ્રકરણોમાં બાકીની ત્રણ ભાષાઓની વિશિષ્ટતા જણાવી છે.

મૃચ્છકટિક નાટકમાં પ્રાકૃત ભાષાઓનું એક વિચિત્ર લંકાળ લેણું કરવામાં આવેલું છે જેથી કરીને તે નાટક ઉપયોગી પ્રાકૃત રૂપોની ખાણ બન્યું છે. વળી, વિક્રમેશ્વરીના ચોથા અંકમાં પુરુરવ રાજાના આત્મપ્રલાપની ભાષા તદ્દન લિપ્ત જ છે, અને એક જાતની કાવ્યમાં વપરાતી અપભ્રંશ ભાષા છે, જેને આધુનિક વૈયાકરણો સૂળ પ્રાકૃતથી, ઘણીજ ભુલો ગણે છે. આ અપવાદો સિવાય સંસ્કૃત નાટકોમાં—ગદ્યમાં શૌરસેની, અને પદ્યમાં મહારાષ્ટ્રી,—સાધારણ પ્રાકૃત જ વપરાય છે. આ બંને માટેના નિયમો સરખાજ છે, પરંતુ ગદ્યમાં વપરાતી ભાષા કેવળ વ્યંજનો ઉડાડી દેવામાં થોડી છૂટ લે છે, તથા ધાતુ અને પ્રાતિપદિકનાં કેટલાંક રૂપો તેનાં પોતાનાં ખાસ હોય છે, જે નીચે જણાવવામાં આવશે. તો પણ નાટકોની ભાષા, ખાસ કરીને ગદ્યમાં, વરરૂચિના નિયમોથી ઘણી વાર વિરૂદ્ધ બાય છે.

આ લઘુ વ્યાકરણ નાટકમાં વપરાતી સાધારણ પ્રાકૃત માટે ખાસ કરીને બનાવવામાં આવ્યું છે. ખરેખર, અત્યાર સુધી પદ્યાત્મક પ્રાકૃતનાં ઘણાં ઉદાહરણો જાણવામાં ન હતાં; ફક્ત નાટકોમાં તથા અલંકારના ગ્રંથોમાં આવેલાં પ્રાકૃત પદ્યોનાં થોડાંક નમુનાઓ જણાયા હતા પણ પ્રો. વેબરે હાલકવિના સમશતકનો કેટલોક ભાગ છપાવ્યો છે જેને લીધે મહારાષ્ટ્રી ભાષાનું મોટું ક્ષેત્ર ખુલ્લું થયું છે. તે કાવ્યમાં પ્રાકૃતના અભ્યાસને માટે ઘણી ઉપયોગી એવી આર્યોઓ છે પરંતુ મારા પ્રસ્તુત કાર્ય માટે તે બહુ ઉપયોગી નહિ હોવાથી મેં આ લેખમાં તેમને ઉપયોગ બહુજ થોડો કર્યો છે. તો પણ પરિશિષ્ટમાં હાલકવિની દશેક આર્યોઓ મેં આપી છે.

વિભાગ ૧.

લલલગ સર્વથા સંસ્કૃત શબ્દોમાં કેટલાક ફેરફારો કરીને અને કેટલાક અક્ષરો ઉડાડીને પ્રાકૃત રૂપો સિદ્ધ થયાં છે. સંસ્કૃતના અણીશુદ્ધ ઉચ્ચારોને બદલે પ્રાકૃતમાં અસ્પષ્ટ અને અર્ધ-ઉચ્ચાર કરવામાં આવે છે, તથા સંસ્કૃત ભાષાના સ્વભાવની વિરૂદ્ધ જઈને વારંવાર સ્વરસમૂહનો બાધ કરવામાં આવે છે. નીચેના પ્રકરણમાં, પ્રથમ તો શબ્દોના અક્ષરોમાં થતા ફેરફાર વિષે અને, પછીથી, પ્રાતિપદિક અને ધાતુઓનાં રૂપોમાં થતા ફેરફાર વિષે વિવેચન કરીશું.

સ્વર પ્રકરણ.

પ્રાકૃતમાં ઋ, ઋ, લૃ, યે, ઐ સિવાયના બધા સ્વરો સંસ્કૃત પ્રમાણે છે. કોઈ શબ્દમાં પ્રથમ અક્ષર ઋ હોય તો તેનો રિ થાય છે, જેમ કે ઋણ ને બદલે રિણ; કેટલીક વાર ઋ ની પહેલાં વ્યંજન હોય તો તે વ્યંજનનો લોપ કરવામાં આવે છે, જેમ કે સદશ—સરિસ. જો ઋ ની પહેલાં વ્યંજન આવ્યો હોય તો ઋ નો અ અથવા ઇ થાય છે, અને જો તે વ્યંજન યોષ્ઠ-સ્થાનીય હોય તો ઋ નો ઊ થાય છે; જેમ કે તૃણ—તણ, કૃત—કઅ, દૃષ્ટિ—દિટ્ટિ, મૃગ—મિંગ, પૃથ્વી—પુથ્વી, પ્રવૃત્તિ—પડતિ. પરંતુ આવા ફેરફાર શબ્દના પ્રથમાક્ષર ઋ માં લાગ્યે જ થાય છે; તો પણ હસિ (ઋષિ), ઉજ્જુઅ (ઋજુ), ઉદુ (ઋતુ).

૧. શાકુન્તલ ના ચોથા અંકમાં ધીવર માગધી ભાષાનો ઉપયોગ કરે છે, તેમજ મુદ્રારાક્ષસ માં કેટલાંક પાત્રો નિકૃષ્ટ ભાષા વાપરે છે.

૨. ડૉ. પી.એલે શૌરસેનીવિષે કુન્હુના બીરૂજ પુઠ માં વિવેચન કર્યું છે. પરંતુ તેમના કેટલાક નિર્ણયો અનિશ્ચિત છે.

પ્રાકૃત શબ્દમાં ક્ષ આવી શકતો નથી, તેથી ત્ અન્તવાળા સંસ્કૃત શબ્દોનું પછી બહુવચનનું રૂપ અકારાન્ત અથવા ઉકારાન્ત શબ્દો પ્રમાણે થાય છે.

ક્લૃત્તુનું કિલિત્ત થાય છે.

એ નું ઇ અગર અ ઇ (કવચિત્ ઇ અથવા ઈ) થાય છે, જેમ કે સેલ (શૈલ), દૃષ્ઠ (વૈત્થ).

ઔ નું ઓ અગર ઓ (કવચિત્ ઓ) થાય છે, જેમ કે કોમુઈ (કૌમુદી), પૌર (પૌર), સુંદર (સૌંદર્ય).

ખાકી રહેલા સ્વરોમાંથી ઇ અને ઓ સંઘ્યક્ષર હોતા નથી, અને યથાનિયમાનુસાર -હસ્વ યા દીર્ઘ હોઈ શકે.

પ્રાકૃતનો એક મુખ્ય નિયમ નીચે પ્રમાણે છે:—

મૂળ શબ્દમાં જોડાક્ષરની પહેલાં દીર્ઘ સ્વર આવ્યો હોય તો પ્રાકૃતમાં તે સ્વર -હસ્વ થાય છે, જેમ કે આ, ઈ, ઊ નું અનુક્રમે અ, ઇ, ઉ થાય છે; (ઇ અને ઓ એમ જ રહી શકે છે), જેમ કે માર્ગ—મર્ગ, દીર્ઘ—દિષ્ઠ, પૂર્વ—પુર્વ. તેમાં બે પેટા નિયમો નીચે પ્રમાણે છે: (અ) જો પ્રાકૃતમાં પણ દીર્ઘ સ્વર રાખવામાં આવે તો જોડાક્ષરમાંથી એક વ્યંજનનો લોપ થાય છે, જેમ કે હ્રસ્વ—હ્રસ્વ અથવા હ્રસ્વ, વિશ્વાસ—વિશ્વાસો અથવા વિસ્વાસો; (બ) જોડાક્ષરની પહેલાં આવેલો -હસ્વ સ્વર દીર્ઘ થાય છે અને એક વ્યંજનનો લોપ થાય છે, જેમ કે જિહા—જીહા, કૌઠકવાર જોડાક્ષરની પહેલાંના ઈ ને ઉ ને બદલે ઇ અને ઓ થાય છે, જેમ કે પિણ્ડ—પેણ્ડ, તુણ્ડ—તોણ્ડ. ઘણી વાર ય ની પહેલાંના અ ને બદલે ઇ થાય છે, જેમ કે પર્યન્ત—પેરન્ત, સૌંદર્ય—સુંદર, આશ્ચર્ય—અચ્છેર. કેટલાક શબ્દોમાં પહેલા અક્ષરમાં ઉ નું અ થાય છે, જેમ કે મુકુટ—મહુટ, પુરુષ અને માત્ર નું અનિયમિત રૂપ પુરિસ અને મેત્ત થાય છે.

આ નિયમિત ફેરફારો ઉપરાંત વ્યાકરણોમાં અને પ્રાકૃત લેખોમાં, તથા ખાસ કરીને સમ-શતકમાં કેટલાક સ્વરોના ફેરફારો અનિયમિત રીતે થાય છે જેમ કે સમૃદ્ધિ—સમિદ્ધિ અથવા સામિદ્ધિ, ઉત્ત્વાત—ઉત્ત્વઞ અથવા ઉત્ત્વાઞ, પટહ—પટ્હ, વિગેરે. સામાસિક શબ્દો કે જેમાં વારંવાર સ્વરો -હસ્વ દીર્ઘ થયા કરે છે તથા કેટલીક વાર આખા અક્ષરો દુપ્ત કરવામાં આવે છે તેમાં આવી અનિયમિતતા વારંવાર જોવામાં આવે છે, જેમ કે યમુનાતટ—જડણઅડ અને જડણ-અડ; સુકુમાર—સુડમાર અને સોમાર; રાજકુલ—રાજલ અને રાલ, વિગેરે (સરખાવો—વર ૨૦ ૪, ૧; વેબર, સત્તરાં ૫૦ ૩૨, ૩૩.)

૨. કેવળ વ્યંજન પ્રકરણ.

(અ). સામાન્ય પ્રાકૃતમાં જ્ અને જ્ નથી, અને તેમને બદલે જ્ વપરાય છે. જ્ ની પછી ઠંત્યાક્ષર ન આવ્યો હોય તો સાધારણ રીતે તેનો જ્ થાય છે. શબ્દના આરંભમાં આવેલા જ્ નો જ્ થાય છે. સામાન્ય રીતે આટલા નિયમો અર્પવાદ રૂપે આવે છે [તો પણ, નાટકોમાં કેટલીકવાર ણ (પુનઃ), અ (અ) થાય છે, પરંતુ આવા ફેરફારો વરંચિએ સ્વીકાર્યા નથી. વળી, વરહ ૨, ૩૨-૪૧ માં આવેલા શબ્દો, જે આ પુસ્તકને અંતે આપવામાં આવ્યા છે તે જુઓ]. સુ, અ એવાં શબ્દો જ્યારે કેટલાક શબ્દોના આરંભમાં લગાડવામાં આવે છે ત્યારે તેવા શબ્દોનો પહેલો વ્યંજન દુપ્ત થાય છે, જેમ કે આર્યપુત્ર—અજ્જપુત્ર, સુકુમાર—સુડમાર.

(બ) છેવટના મ્ અને ન્ જે અનુસ્વારના રૂપમાં પરિણત થાય છે, તે સિવાયના ખોડા વ્યંજનોનો લોપ થાય છે. ઘણી વાર છેવટના અનુસ્વારનો લોપ થાય છે. કેટલાક નામોના અંત્ય વ્યંજનોને અ અગર આ લગાડવામાં આવે છે, જેમ કે પ્રાવૃષ્—પાવસ, સરિત્—સરિઆ.

(ક) વચમાં આવેલા ખોડા અક્ષરો:—

ક, ગ, ચ, જ, ત, દ, પ, વ, જ નો વિકલ્પે લોપ થાય છે; પરંતુ ત અને પ નો જ્યારે લોપ ન થાય ત્યારે તેમને બદલે ઘણી વાર દ અને જ અગર ચ થાય છે. આવી રીતે થતો લોપ ગદ્ય કરતાં પદ્યમાં વિશેષ જોવામાં આવે છે. પ્રતિ ઉપસર્ગને બદલે પ્રાકૃતમાં પાંચ લખવામાં આવે છે.

ચ નો ઘણી વાર લોપ થાય છે, જેમ કે વાયુ—વાડ, નયન—નઅણ.

જ નો જ થાય છે; અને દ નો દ્ થાય છે, અને કેટલીક વાર જ નો જ્ થાય છે.

ચ, જ, ષ, ઘ, ખ જેમ જ રહે છે, અગર તો તેમનો જ્ થાય છે (જ્યારે જ નો જ ન થાય ત્યારે, અને ખાસ કરીને ગદ્યમાં, જ્ થાય છે.) છ, જ્, અને દ માં ફેરફાર થતો નથી. દ નો હંમેશા દ્ થાય છે; ક સાધારણ રીતે અવિકૃત રહે છે, અને કદાચ તેનો મ્ પણ થાય. (વરં ૨, ૨૬, સરખાવો લેસન સાહેબનું વ્યાકરણ, પાન ૨૦૮.)

ર ને બદલે ઘણી વાર લ્ થાય છે; અને આ પ્રમાણે માગધી અને બીજી કેટલીક હળકી લાપા-ઓમાં નિયમિતપણે થાય છે. ન, મ્, લ્, સ્, હ અવિકૃત રહે છે. જ્ અને ષ ને બદલે સ્ થાય છે, પરંતુ દસ અને તેના ઉપરથી થતા શબ્દોમાં તથા દિવસ માં, સ નો હ્ થાય છે, જેમ કે એકા-દશ—અઠારહ, દિવસ—દિઅહ, તેમજ, હંદશ—અદહ.

શબ્દની મધ્યમાંના ખોડા વ્યંજનોને કેટલીકવાર બેવડાવવામાં આવે છે; જેમ કે એક—એક અથવા એક, અશિષ—અસિવ અથવા અસિવ (વરં ૩, ૫૨, ૫૮).

૩. જોડાક્ષર પ્રકરણ.

પ્રાકૃત લાપાના ખાસ ફેરફારો જોડાક્ષરોમાં થાય છે. જ્યારે વધારે સંસ્કૃત જોડાક્ષરો મળી જઈને એકાદ પ્રાકૃત રૂપ સિદ્ધ થાય છે ત્યારે તે રૂપ એકાએક ઓળખી શકાતું નથી. પ્રાકૃતમાં જુદા જુદા વર્ગના બે વ્યંજનોનું જોડાણ રહી શકતું નથી, તેથી તે વ્યંજનોમાંથી એકનો લોપ કરી, અને બીજાને બેવડાવી એક વર્ગના કરવા પડે છે. સામાન્ય નિયમ તરીકે, જોડાક્ષરોમાંના પહેલા વ્યંજનનો લોપ થાય છે, પરંતુ ન, મ્, ષ પહેલા ન હોય તો પણ તેમનો લોપ થાય છે, અને ર, લ્, અને જ નો સર્વાત્ર લોપ થાય છે. આ ઉપરાંત કેટલાક અપવાદો પણ છે. એક નિયમ ખાસ યાદ રાખવો જોઈએ કે—જ્યારે કોઈ જોડાક્ષરમાં ઊખાક્ષર આવ્યો હોય, ત્યારે તેનો લોપ કરી તેને બદલે તેની સાથે જોડાયેલા વ્યંજન પછીનો મહાપ્રાણ વ્યંજન મૂકવામાં આવે છે. જેમ કે સ્ક, જ્ક અથવા ક્ષ ને બદલે ક્ષ્ થાય; અગર તો, ઊદમાક્ષરની સાથે જોડાયેલા વ્યંજનની પછીનો મહાપ્રાણ વ્યંજન ન હોય તો ઊખાક્ષરને બદલે હ મૂકવામાં આવે છે, જેમ કે સ્ત અથવા જ્ઞ ને બદલે જ્ઞહ. પરંતુ જ્યારે આવી પરિસ્થિતિ સામાસિક શબ્દના પદોમાં આવી હોય ત્યારે ઉપયુક્ત નિયમ જળવાતો નથી; જેમ કે તિરસ્કારો—તિરકારો. (તિરસ્કારો એમ ન થાય.) ર અને હ કદી પણ બેવડાતા નથી. જોડાક્ષરમાં હ આવ્યો હોય તો છેવટે લખાય છે, જેમ કે બ્રાહ્મણ—બમ્હણ. જોડાક્ષરમાં ર આવ્યો હોય તેનું અનુસ્વાર થાય છે; આ નિયમ વ્ અને ઊખા-ક્ષરમાં પણ કોઈક વખતે લાગુ પડે છે; જેમ કે દર્શન—દંસન, વક્ત્ર—વંક, અશ્વ—અંસ, અશ્વ—અંસુ; (જુઓ વરં ૪, ૧૫). કેટલીક વાર જોડાક્ષરની વચમાં એક નવો સ્વર મૂકવામાં આવે છે;

૧. વ પ્રાકૃત અક્ષર હશે કે નહિ તે શંકાસ્પદ છે, કારણ કે પ્રતોમાં હંમેશાં વ લખેલો હોય છે.

૨. દ્ અને ર વારંવાર એક બીજાને બદલે વપરાય છે, જેમકે વેણીસં ૫ા. ૧૯, ૧-૨, માં પઢિ-હિસિસામો (પરિહરિસિયામ:), તથા શાકું, ૫ા. ૫૬, ૧-૧૨, (ખાંથલીંગ), મલબતરમ્મૂલિઆ [મલબતર—(હ)]

જેમ કે હર્ષ—હરિસ (જુઓ વરં ૩, ૫૬-૬૬); ઘણી વાર યં માં આવેલા ચ નો દ થાય છે, જેમ કે ચૌર્ય—ચોરિઅ.

પ્રાકૃત જોડાક્ષરોની તાલિકા.

નીચેની તાલિકામાં સંસ્કૃત જોડાક્ષરોનાં પ્રાકૃત રૂપો આપ્યાં છે, જેમાંના ફેરફાર શબ્દના મધ્યમાં થાય છે એમ સમજવું; પણ તે પ્રાકૃત જોડાક્ષરોમાંના પહેલા અક્ષરનો લોપ કરવાથી તે રૂપો શબ્દના આરંભમાં પણ ઉપયોગમાં આવે, જેમ કે યક્ષ—જક્ષ; પણ ક્ષત—ક્ષદ; તેજ પ્રમાણે શબ્દની વચમાં હોય તો પ્ર નો વ્ થાય છે, અને આરંભમાં હોય તો પ્ર નો પ થાય છે.

ક=ત્ક, ત્ક (?), ક્ય, ક્ર, કં, સ્ક, ક્લ, ક્ઃ; જેમ કે ઉત્કળ્ઠા, મુક્ત, ચાળક્ય, શક્ર, અર્ક, વિક્લવ, ઉલ્કા, પક્, ને બદલે અનુક્રમે ઉક્કળ્ઠા, મુક્ક, ચાળક્ક, સક્ક, અક્ક, ઉક્કા, વિક્કવ, પિક્ક થાય છે.

ક્ષ=ત્ક્ષ, સ્ક્ષ, ક્ષ, ત્ક્ષ, (ક્ષ્ય), જ્ક્ષ, સ્ક્ષ, (જ્ક્ષ), સ્ક્ષ, :ક્ષ; જેમ કે ઉત્ક્ષણ્ઠિત, આસ્થ્યા, યક્ષ, ઉક્ષિપ્ત, મુક્ષ, સ્ક્ષન્ધ, સ્ક્ષલિત, દુઃક્ષ ને બદલે ઉક્ષણ્ઠિત, અક્ષ્યા, જક્ષ, ઉક્ષિપ્ત, મુક્ષ, સ્ક્ષન્ધ, સ્ક્ષલિત, દુઃક્ષ ને બદલે ઉક્ષણ્ઠિત, અક્ષ્યા, જક્ષ, ઉક્ષિપ્ત, મુક્ષ, સ્ક્ષન્ધ, સ્ક્ષલિત, દુઃક્ષ થાય છે.

ગ્ગ=ઙ્ગ, ઙ્ગ, ગ્ગ, ગ્મ, ગ્ય, ગ્ર, ગં, લ્ગ; જેમ કે સ્ગ્ગ, મુદ્ગ, નગ્ગ, યુગ્મ, યોગ્ય, સમગ્ગ, વર્ગ, વલ્ગિત ને બદલે સ્ગ્ગ, મુગ્ગ, ગ્ગ, જુગ્ગ, જોગ્ગ, સમગ્ગ, વર્ગ, વગ્ગિદ થાય છે.

ઘ=ઙ્ઘ, ઙ્ઘ, ઘ્ઘ, ઘ્ન, ઘ્ઘ; જેમ કે ઉદ્ઘાટિત, વિઘ્ન, શીઘ્ર, નિર્ઘ્ન ને બદલે ઉદ્ઘાટિદ, વિઘ્ઘ, સિઘ્ઘ, ણિઘ્ઘિય થાય છે.

હ્હ=હ્ઠ; જેમ કે સહ્હોભ—સહ્હોહ (અથવા સહ્હ્વોહ ?).

ચ્ચ=ચ્ય, ત્ય, ચં; અચ્યુત, નિત્ય, ચર્ચરિકા ને બદલે અચ્ચુદ, ણિચ્ચ, ચર્ચરિઆ થાય છે.^૧

ચ્છ=ચ્ચ, છં, છ્ઠ, ક્ષ, ત્ષ, ક્ષ્મ, ત્ષ્મ, ત્ષ્ય, પ્ષ, ક્ષ્ઃ; જેમ કે મિથ્યા, સૂચ્છા, કુચ્છાણક, અક્ષિ, ઉક્ષિપ્ત, લક્ષ્મી, વત્ષ, મત્ષ્ય, લિપ્ષા, આશ્ચર્ય ને બદલે મિચ્છા, મુચ્છા, કુચ્છાણઅ, અચ્છિ, ઉચ્છિપ્ત, લચ્છી, વચ્છ, મચ્છ, લિચ્છા, અચ્છેર થાય છે.

જ્જ=ઙ્જ, જ્ઞ (કોઈકે વખત) જ્ઞ, જં, જ્વ, ઘ; યં, ય્ય. (ભાગ્યેજ); જેમ કે કુજ્જ, સર્વજ્જ, વજ્જ, ગર્જિત, પ્રજ્વલિત, વિદ્યા, કાર્ય, શય્યા ને બદલે કુજ્જ, સર્વજ્જ, વજ્જ, ગર્જિદ, પજ્જલિદ, વિજ્જા, કજ્જ, સેજ્જા થાય છે.

જ્ઞ=ઙ્ઞ, હ્ય; જેમ કે મધ્ય, વાહ્યક, ને બદલે મજ્ઞ, વજ્ઞઅ થાય છે.

ટ=તં; જેમ કે નર્તકી નું ણટ્ટઈ થાય છે.

ટ્=ટ્ઠ, ટ્ઠ; જેમ કે દૃષ્ટિ, ગોષ્ટી નું દિટ્ટિ, ગોટ્ટી થાય છે.

ડ=તં, દં (ભાગ્યેજ); જેમ કે ગર્ત, ગર્દમ નું ગટ્ટ, ગટ્ટહ થાય છે.

૧. ક=ત્ક ઘણાં તાટકોમાં જોવામાં આવે છે, જુઓ મૃચ્છં, પા. ૨૬ ૧-૨૦ ઉપર સ્ટેન્ડરની નોટ.

૨. ખાસકરીને સમાસમાં ક્=ક્ક, સ્ક વપરાય છે, જેમકે નિક્કમ્પ=નિષ્કમ્પ ખાકી અન્ય સ્થળે ક્ષ થાય છે. તેજ પ્રમાણે ચ્=ચ્ચ અને વ્=વ્વ, અગર વ્.

૩. કવચિત્ શ્વ ને બદલે જ જોવામાં આવે છે, પણ ખાસ કરીને નિચઅ (નિશ્ચય) જોવા શબ્દોમાં જ જેમાં નિષ્ ઉપસર્ગ^૨ વ થી શરૂ થતા શબ્દ સાથે જોડાયેલા છે.

૪. અટ્ટિ (અસ્થિ=હાડકું), તથા ટિઅ (સ્થિત) માં ટ્ યે સ્વ ને માટે વપરાય છે.

હૂ = હ્ય; જેમ કે આહ્ય નું અહૂ થાય છે.

ણ = ણ (?), જ્ઞ, મ્ન, જ્ઞ, ણ્ય, ન્ય, ણે, ણ્વ, ન્વ, જેમ કે રુણ, યજ્ઞ, પ્રચુમ્ન, પ્રસન્ન, વુણ્ય, અન્યોન્ય, વર્ણ, કણ્વ. અન્વેષણા, ને બદલે રુણ જણ, પજ્જુણ, પસણ, વુણ, અણ્ણાણ, વણ, કણ, અણેસણા થાય છે.

ણ્ઠ = ણ્ઠ શ્ર. ણ, સ્ન, હ્ઠ, હ; જેમ કે તોણ્ઠ, પ્રઞ્ઠ, વિણ્ઠ, પ્રસ્નુત, પૂર્વાહ્ઠ, વહિ ને બદલે તિણ્ઠ, પણ્ઠ, વિણ્ઠુ, પણ્ઠુદ, પુઠ્ઠવણ્ઠ, વણ્ઠિ થાય છે.

ત્ત = ક્ત, ત, ત્ત, ત્મ, ત્ર, ત્વ, તે; જેમ કે ભક્ત, સુત્ત, પત્ની, આત્મા, શત્રુ, સત્ત્વ, મુહૂર્ત ને બદલે ભક્ત, સુત્ત, પત્તી, અત્તા, સત્રુ, સત્ત, મુહુત્ત થાય છે.

ત્થ = ક્થ, ત્ર, ^૧ થે, સ્ત, સ્થ; જેમ કે સિક્થક, તત્ર, પાથે, હસ્ત, અવસ્થા ને બદલે સિત્થઅ, તત્થ, પત્થ, હત્થ, અવત્થા થાય છે.

હ = હ્દ, (હા ?), દ્ર, દં, દ્ઃ; જેમ કે શહ્દ, મદ્ર, શાહૂલ, અદ્વૈત ને બદલે સદ્, મદ્, સદૂલ, અહ્દહા થાય છે.

દ્ઃ = ગ્ધ, ઘ્ધ, ઘે, ઘ્વ; જેમ કે સ્નિગ્ધ, લઘ્ધ, અર્ધે, અધ્વન્, ને બદલે સિણિદ્ઃ, લદ્ઃ, અદ્ઃ, અદ્ઘા થાય છે.

ન્દ = ન્ત (શૌરસેનીમાં કદાચ થાય છે.) જેમ કે કિન્તુ, પ્રભાવાન્ ને બદલે કિન્દુ, પહાવ-વન્દો થાય છે. ^૨

પ્પ = ત્પ, પ્ય, પ્ર, પે, લ્પ, છ, ક્મ; ^૩ જેમ કે ઉત્પલ, વિજ્ઞપ્ય, અપ્રિય, સર્પણીય, અલ્પ, વિપ્લવ, હક્મ ને બદલે ઉત્પલ, વિજ્ઞપ્પ, અપ્પિઅ, સર્પણીય, અપ્પ, વિપ્પવ, રુપ્પ થાય છે.

પ્ફ = ત્ફ, પ્ફ, (:ફ), સ્ફ, ભ્પ, સ્પ; જેમ કે ઉત્ફુલ્લ, નિષ્ફલ, સ્ફુટ, વુષ્પ, શરીરસ્પર્શ ને બદલે ઉત્ફુલ્લ, ણિષ્ફલ, ફુલ્લ, વુષ્પ, સરોરપ્ફંસ થાય છે.

ઘ્ઘ = દ્ઘ, ઘે, ઘ્ઘ; જેમ કે ઉદ્ઘન્ય, અબ્રાહ્મણ્ય ને બદલે ઉઘ્ઘનિધ્ય, અઘ્ઘમ્હણમ્.

ભ્મ = ગ્મ, ઙ્મ, મ્ય, મ્મ, મે; ^૪ જેમ કે પ્રાગ્માર, સદ્માવ, અમ્યથેના, અમ્ર, ગર્મ ને બદલે પઘ્માર, સઘ્માવ, અઘ્મત્થણા, અઘ્મ, ગઘ્મ થાય છે.

મ્મ = છા, ણ્મ, ન્મ, મ્ય, મે, લ્મ; ^૫ જેમ કે દિહ્મુલ્લ, ણ્મુલ્લ, જન્મ, સૌમ્ય, વર્મન્, ગુલ્મ ને બદલે દિમ્મુહ, હમ્મુહ, જમ્મ, સોમ્મ, વમ્મ, ગુમ્મ થાય છે.

મ્હ = પ્મ, હ્મ, સ્મ, હા; જેમ કે ગ્રામ્મ, પશ્મન્, વિસ્મય, બ્રાહ્મણ ને બદલે ગિમ્હ, પમ્હ, વિમ્હઅ, વમ્હણ થાય છે.

ચ્ય = ચે, જે, (માગધી); જેમ કે કાર્ય, દુર્જન: ને બદલે કર્યે, દુર્યણે થાય છે.

રિ = દ્, રે (કદાચ); જેમ કે તાદશ, ચૌર્ય ને બદલે તારિસ, ચોરિઅ થાય છે.

૧. ત્ર ને બદલે ત્થ અકેલા અવ્યયોમાંજ વપરાય છે, જેમકે અત્ર (અત્ર), તત્થ (તત્ર).

૨. બુચ્ચો બોથલિંગનું શાકું, પા. ૧૫૫ નોટ

૩. આત્મા નું પ્રાકૃત અપ્પા તથા અત્તા બેઉ છે. પ્પ = ત્પ, સ્ફ, કૃંત સમાસમાંજ, જેમકે ચઝ-પ્પહો = ચતુષ્પથ: !

૪. ભ્મ = હ, જેમકે વિભ્મલ = વિહલ.

૫. મિલ્ = મ્લ, જેમકે મિલાણ = મ્લાન બુચ્ચો લેસન, પા. ૨૫૮. વળી, વ = દ્ઃ, જેમકે વારહ = દ્વાદશ.

હ્ર = લ્ય, લ્, (લ્વ), ય (ભાગ્યેજ); જેમ કે શલ્ય, નિર્લજ્જ, પર્યાણ ને બદલે સહ્ર, ણિહ્રજ્જ, પહ્રાણ થાય છે.

લ્હ = હ્ર; જેમ કે કહ્રાર નું કલ્હાર થાય છે.

વ્વ = વ્ય, (વ્ર), વે, જેમ કે કાવ્ય, પૂર્વ ને બદલે કવ્વ, પુવ્વ થાય છે.

સ = શ, શ્ર, શ્વ, સ્વ; જેમ કે દર્શન, અશ્રુ, અશ્વ, મનસ્વિની ને બદલે દંસણ, અંસુ, અંસો, મણંસિણી થાય છે.

સ્સ = ષ, ઈમ, ઈય, શ્ર, શ્વ, ષ્મ, ષ્ય, ષ્વ, સ્ય, સ્ન, સ્વ; જેમ કે ર્ષી, ર્શ્મિ, રાજશ્યાલક, વિશ્રાન્ત, અશ્વ, શુષ્મ, પુષ્ય, પરિષ્વજામિ, તસ્ય, સહસ્ર, તપસ્વિનૂ ને બદલે ર્શ્સા, રશ્સિ, રાજસ્સાલક, વિસ્સન્ત, અસ્સ, સોસ્સ, પુસ્સ, પરિસ્સામિ, તસ્સ, સહસ્સ, તવસ્સી થાય છે.

તા. ક.—જે સંસ્કૃત શબ્દોમાં ત્રણ વ્યંજનો ભેડાયેલા હોય તો તેમાંના અર્ધસ્વરનો પ્રાકૃત કરતી વખતે, લોપ કરવામાં આવે છે, અને ત્યાર પછી બાકી રહેલા વ્યંજનો માટે ઉપયુક્ત નિયમો લાગુ પાડવામાં આવે છે; જેમ કે મત્સ્ય = મત્ત્સ; પરંતુ આવા (અર્ધસ્વર વાળા) ભેડાક્ષરની પહેલાં અનુનાસિક વ્યંજન આવ્યો હોય તો બાકી રહેલા ભેડાક્ષરોની બાબતમાં સામાન્ય નિયમો લાગી શકે છે; માત્ર અનુનાસિક પછી તેઓ બેવડાતા નથી; (વર ૩, ૫૬) જેમ કે ચિન્ધ્ય = ચિન્ધ્. [ધ્ય નો જ્ઞ (વર ૩, ૨૮) પ્રમાણે થાય છે.]

ઉપયુક્ત નિયમો ઉપરાંત, હાલ કવિના સપ્તશતકની જેમ બીજાં પદોમાં ઘણી અનિયમિતતા ભેવામાં આવે છે; જેમ કે ત્રૈલોક્ય નું પ્રાકૃત રૂપ વરરૂચિએ તેલોઅ તથા તેલ્લોઅ આપ્યું છે. તેજ પ્રમાણે નમસ્તલ નું પ્રાકૃત રૂપ જહઅલ (ઉત્તરરામ ૦, પા. ૧૦૫, તથા સપ્તશ ૦ ૭૪), તથા જહઅલ (માલતી ૦, પા. ૬૦), વિગેરે ભેવામાં આવે છે.

વિભાગ ૨.

પ્રાકૃત નામો પાંચ ભતનાં હોઈ શકે: ૧ અકારાંત તથા આકારાંત; ૨ ઈકારાંત તથા ઉકારાંત; ૩ ઉકારાંત તથા ઝકારાંત; ૪ મૂળરૂપે ઋકારાંત; ૫ વ્યંજનાંત.

છેલ્લા બે વિભાગમાં પડે એવાં નામો ઘણાં થોડાં છે. ઋકારાંત પુલ્લિંગ શબ્દોને અર અથવા આર અંતવાળા બનાવવામાં આવે છે; જેમ કે પિતા-પિઅરો; પિત્રા-પિઅરેણ, મર્તા-મત્તારો, મર્ત્ત્રા-મત્તારેણ. પ્રથમા તથા દ્વિતીયા બહુવચનમાં, તૃતીયા અને પછી એકવચનમાં, તેમજ સપ્તમી બહુવચનમાં, છેવટના ઋ ને બદલે ઊ મૂકવામાં આવે છે, અને પછી ઉકારાંત શબ્દોની માફક તનાં રૂપો ચાલે છે; જેમ કે મર્ત્ત્રણા-મત્તુણા, મર્ત્ત્રુઃ-મત્તુણો. આવું રૂપ વપરાયલું પણ ભેવામાં આવે છે, જેમ કે મર્ત્ત્રુલ-મત્તુલ. સંબન્ધદર્શક નામોનું પ્રથમા એકવચન આ અંતવાળું પણ હોય છે, જેમ કે પિતા-પિઆ; માતૃ-માઆ, અને ત્યાર પછી આકારાંત ઔલિંગ નામોની માફક તનાં રૂપો ચાલે છે. મર્ત્ત્રુ નું સંબોધનરૂપ મદ્દા થાય છે અને તેનું ઔલિંગરૂપ મદ્દિની અથવા મદ્દિણી થાય છે.

વ્યંજનાંત નામોની દ્વિવિધ ગતિ થાય છે: (૧) તેમનો અંત્ય વ્યંજન ઉડી જાય છે અને ત્યાર બાદ ઉપર બતાવેલાં પહેલાં ત્રણ રીતે તેમનાં રૂપ ચાલે છે (નપુસકલિંગ નામ પુલ્લિંગ બની જાય છે); જેમ કે સર (સરસ્) નું પ્રથમાનું રૂપ સરો, કમ્મ (કર્મન્) નું કમ્મો થાય છે; અથવા (૨) મૂળ શબ્દને અ કે આ લગાડવામાં આવે છે, જેમ કે શરદ્ નું સરદો; આશિસ્ નું આશિસા. જે વિલક્ષિતઓના પ્રત્યયો વ્યંજનથી શરૂ થતા હોય તેમને માટે સાધારણ રીતે આ નિયમો લાગે છે. આ ઉપરથી જણાશે કે આ યુક્તિઓ વાપરવાનું કારણ વ્યંજનથી શરૂ થતા

૧. વ્વ=દ્વ, જેમકે ઉવ્વેલ્લહ=ઉદ્વેલ્લતે (વર ૮. ૪૧), જેમાં ઉદ્ ની પછી વ આવે છે.

પ્રત્યયો વ્યંજનાંત શબ્દો સાથે જોડાતાં જે નવા જોડાણરો ઉત્પન્ન થાય તથા જે નવા ફેરફારો કરવા પડે તે ફેર કરવાનું હોયું જોઈએ. પરંતુ સ્વરથી શરૂ થતા વિભક્તિના પ્રત્યયો આગળ ઘણું ખરું સંસ્કૃત રૂપજ રાખવામાં આવે છે; અલબત્ત, તેમાં પ્રાકૃત નિયમોપમાણે ફેરફાર થાય છે, જેમ કે મવદા (મવત્ તું તૃતીયાનું રૂપ), આડસા (આયુષા, આયુસ્ તું તૃતીયાનું રૂપ).

પ્રાકૃતમાં દ્વિવચન નથી તેમજ ચતુર્થી^૧ વિભક્તિ નથી (ચતુર્થીને બદલે પછી વપરાય છે); પંચમી બહુવચનના બે પ્રત્યયો છે: હિતો 'માંથી' ના અર્થમાં પ્રેરકમાં વપરાય છે, અને સુંતો 'માંથી' ના અર્થમાં સાધારણ રીતે વપરાય છે. ખાસ ઉપયોગી એવાં પહેલા ત્રણ પ્રકારનાં રૂપો નીચે પ્રમાણે છે. ઉકારાંત શબ્દોના રૂપ ફકારાંત પ્રમાણે ચાલતાં હોવાથી ખાસ અહીં આપવામાં આવ્યાં નથી.

નામનાં રૂપાખ્યાન.

	વચ્છ=વૃક્ષ એક વચન.
પ્ર૦	વચ્છો (નપું૦ વણ)
દ્વિ૦	વચ્છં - "
તૃ૦	વચ્છેણ, -ણં
૧૦	{ વચ્છાદો, -દુ— ^૧ વચ્છાહિ, વચ્છા
૫૦	વચ્છસ્સ
સ૦	વચ્છે, વચ્છમ્મિ
સં૦	વચ્છ, વચ્છા (નપું૦ વણ)

	અગ્ગિ=અગ્નિ (પુલ્લિંગ) એક વચન.
પ્ર૦	અગ્ગી (નપું૦ દહિં)
દ્વિ૦	અગ્ગિ - "
તૃ૦	અગ્ગિણા
૧૦	અગ્ગીદો, -દુ, -હિ
૫૦	અગ્ગિણો, અગ્ગિસ્સ
સ૦	અગ્ગિમ્મિ
સં૦	અગ્ગિ (નપું. દહિ)

	માલા એક વચન
પ્ર૦	માલા
દ્વિ૦	માલં
૧૦	માલદો, -દુ, -હિ.

	(નપુંસ૦ વણ-વન) બહુવચન.
વચ્છા	(નપું. વણારં, -ઈ, વણા; વણાને ગદ્યમાં વપરાય છે).
વચ્છે; વચ્છા	(નપું૦=પ્રથમા૦)
વચ્છેહિ, -હિ	
{ વચ્છેહિ, -હિ	
{ વચ્છાસુંતો, વચ્છેસુંતો	
વચ્છાણં-ણ	
વચ્છેસુ-સું	
વચ્છા	(નપું૦ વણારં-ઈ).

	દહિ=દાધિ (નપુંસ૦). બહુવચન
અગ્ગીઓ, અગ્ગિણો	(નપું. દહીરં, -)
અગ્ગિણો અગ્ગી (?)-	"
અગ્ગીહિ, -હિ	
અગ્ગીહિતો, -સુંતો.	
અગ્ગીણં, -ણ.	
અગ્ગીસુ, -સું	
અગ્ગીઓ, અગ્ગિણો	(નપું. દહીરં, -ઈ)

	(સ્ત્રીલિંગ) બહુવચન.
માલાઓ, -ઉ; માલા ^૨	
"	"
માલાહિતો, -સુંતો.	

૧. ગદ્યમાં સામાન્ય રીતે સો વાળુંજ રૂપ વપરાય છે.

૨. માલા માટે જુઓ વર. ૫, ૨૦., તથા શાકુંમાં પા. ૧૫ ઉપર, દક્ષિણ શબ્દપર આપેલી ભાષ્યલીંગની ટીકા.

તુ० }
 ષ० } માલાય, -ઈ
 સ० }
 સં० માલે

માલાઈ, -હિ
 માલાળ, -ળ
 માલાસુ, -સું
 માલાઓ, -ઉ

પ્રાકૃતમાં સ્ત્રીલિંગી ફકારાંત અને ફકારાંત તથા ઉકારાંત અને ઝકારાંત નામોનાં રૂપોમાં ફેરફાર હોતો નથી.

ળઈ-નદી (સ્ત્રીલિંગ)

એક વચન.

પ્ર० ળઈ
 દ્વિ० ળઈ
 પં० ળઈદો, -ડુ, -હિ
 તુ० }
 ષ० } ળઈઅ, -આ
 સ० } ળઈઈ, -ઈ
 સં० ળઈ

બહુવચન.

} ળઈઓ, -ઉ; (દ્વિતીયાઁ ળઈ ? બુઓ
 લેસન, પા. ૩૦૭, નોટ ૨.)
 ળઈહિંતો, -સુંતો
 ળઈહિં, -હિ
 ળઈળ, -ળ
 ળઈસુ, -સું
 ળઈઓ, -ઉ

તા તથા ત્વ છેડાવાળાં ભાવવાચક નામો પ્રાકૃતમાં દા અને ત્તણ છેડાવાળાં બની જાય છે, જેમ કે પીણદા, પીણત્તણ. મત્ અને વત્ પ્રત્યયોનાં પ્રાકૃતમાં બુઠાં બુઠાં રૂપો થાય છે, જેમ કે ઉલ્લ, ફલ્લ, આલ, વંત, ફંત (ગદ્યમાં વંદ, ફંદ), જેમ કે વિઆરુલ્લ (વિકારવત્). તાચ્છીલ્યાથે' ફર પ્રત્યય વપરાય છે, જેમ કે ફસિર. સ્વાથે' ક (અ) પ્રત્યય જોડવામાં આવે છે. જેમ કે અમર—મમરઅ, સચ્ચી—સહિઆ. ત્ (ત્ક) પ્રત્યયને બદલે ત્તઅ થાય છે, જેમ કે ઉન્માદયિત્—ઉન્માદ-ઈત્તઅ, આયાસયિત્તી—આઆસઈત્તિઆ (સ્ત્રીલિંગ).

વિભાગ ૩.

સર્વનામ પ્રકરણ.

પ્રાકૃતમાં સર્વનામનાં રૂપો નામપ્રમાણે ચાલે છે. અને તે ઉપરાંત કેટલાંક નવાં રૂપો પણ ઉમેરાય છે. નીચે આપેલાં જ = ય નાં રૂપો ઉપરથી બીજાં ખાસ ઉપયોગી રૂપો સમજાઈ જશે.

પ્રાકૃતમાં વ્યંજનાંત શબ્દ રાખવામાં આવતો નથી, તેથી સંસ્કૃતનાં કેટલાંક સર્વનામોને પ્રાકૃતમાં વિભક્તિના પ્રત્યયો લગાડતાં કેટલાંક ફેરફાર કરવા પડે છે; જેમ કે કિમ્, યદ્, તદ્ ને બદલે ક, જ, ત થાય છે. યતદ્ નું યદ્, અને કોઠકિવાર ય થાય છે (તેથી યસા = યતસ્માન્); હદમ્ નું હમ થાય છે; અદસ્ નું અમુ થાય છે. કિમ્, યદ્, તદ્ નું બીજું રૂપ કિ, જિ, તિ પણ થાય છે; જોકે આ પાછળના રૂપો સ્ત્રીલિંગમાં વપરાય છે તો પણ પુલ્લિંગની અને નપુંસકલિંગની તૃતીયા અને ષષ્ઠીમાં તેમનાં કેટલાંક રૂપો આવે છે. હદમ્ નું પણ તૃતીયાનું હમિના રૂપ થાય છે. ખરી રીતે પ્રાકૃતમાં સર્વનામનાં રૂપોમાં બહુ નિયમિતતા જોવામાં આવતી નથી; તેથી હમસ્સિ ખરી રીતે પુલ્લિંગ સમ્પ્રીનું રૂપ હોવા છતાં ષષ્ઠી વાર સ્ત્રીલિંગમાં વપરાયું છે જેમ કે શાકુન્તલ (મૌનીયર વીલીયમ), પાઠ ૩૬, ૨; ૧૧૫, ૩.

વરરચિએ ખાસ આપેલાં કેટલાંક રૂપો હું નીચે આપું છું. તસ્માન્ અને યતસ્માન્ ને બદલે તો અને યત્તો (૬, ૧૦, ૨૦); તસ્ય અને તસ્યાઃ ને બદલે સે (૬, ૧૧); તેષાં અને તાસાં ને વ્યાઠ ૨

બહલે સિં. અદસ્ પ્રથમા એકવચન ત્રણે લિંગમાં અહ. જે કે વરરૂચિએ જણાવ્યું નથી તો પણ યનમ્ અને યનામ્ ને બહલે નાટકોમાં જ વપરાયેલું જોવામાં આવે છે. કિયત્, તાવત્ વિગેરેને બહલે કેહહ, કેતિઅ, તેહહ, તેતિઅ વિગેરે આપેલાં છે (૪, ૨૫); પરંતુ ખરી રીતે કેહહ વિગેરે કીદશ વિ. ને માટે હોવાં જોઈએ.

જ=ચ (પુલિંગ) કાણુ.

	એક વચન.
પ્ર૦	જો (જં નપું૦ કિં=કિમ્)
દ્વિ૦	જં —
તૃ૦	જેળ, જિણા
૧૦	જત્તો, -તુ, જવો, -દુ
૨૦	જસ્સ, જાસ ^૧
સ૦	જસ્સિ, -સ્સિ જમ્મિ, -મ્મિ જહિ, જહિ, જત્થ

	બહુવચન.
જે (જાઈ, -ઈ નપું૦)	
જે	—
જેહિ, જેહિ	
જાહિતો, જાસુંતો	
જાળં, -ળ, જેસિ	
જેસુ, -સું	

સીલિંગ.

	એક વચન.
પ્ર૦	જા
દ્વિ૦	જં
૧૦	જાવો, -દુ, જીવો (?)
તૃ૦	
૨૦	જસ્સા જાસે (?)
સ૦	જિસ્સા, જીસે

	બહુવચન.
	{ જાઓ-ડ, જીઓ, -ડ
	જાહિતો, -સુંતો, જીહિતો, -સુંતો
	જાહિ, જીહિ
	જાસિ, જાળં, -ળ, જીળં, -ળ, જીસિ,
	(જાસાં, જેસિ)
	જાસુ, -સું, જીસુ, -સું

વરરૂચિએ (૬, ૨૫-૫૩) માં પુરૂષ સર્વાનામે આપ્યાં છે. જે રૂપો નાટકોમાં કદી પણ આવતાં નથી તેમને મેં ઊંકેટમાં મૂક્યા છે. બહુવચનનાં રૂપો તદ્દન ભુલી જ રીતે થાય છે, જેમ કે તુજ્ઞ, તુમ્હ, તુમ્મ, અમ્હ, તથા મજ્ઞ.

અસ્માદ ' હું '

	એક વચન.
પ્ર૦	અહં (હં, અહઅં, અહમ્મિ)
દ્વિ૦	મં, મમં (અહમ્મિ)
તૃ૦	મે, મય (મહ, મમાહ)
૧૦	મત્તો (મહત્તો, મમાવો, -દુ મમાહિ)
૨૦	મે, મમ, મજ્ઞ, મહ ^૨
સ૦	મહ (મય, મમમ્મિ)

	બહુવચન
અમ્હે (અર્થ મધમાં વપરાય, વર૦ ૨૦, ૨૫)	
અમ્હે, ણો (ણે)	
અમ્હેહિ, -હિ	
અમ્હાહિતો, -સુંતો	
ણો, અમ્હ, અમ્હાળં, અમ્હે ^૩ (મજ્ઞ ?).	
અમ્હેસુ	

૧. વળી, નાટકોમાં નપુંસકલિંગ વધીમાં કીચ ' શામાટે ' એવા અર્થમાં વપરાયેલું જણાય છે.

૨. આ રૂપો ઉપરાંત સત્ત્વ૦ માં મમં અને મહં રૂપો વપરાયેલાં જણાય છે.

૩. આ રૂપો ઉપરાંત સત્ત્વ૦ માં અમ્દં, અમ્મં, મ્હ, અમ્દિ, અમ્દાળ રૂપો વપરાયેલાં જણાય છે.

સુખ્મ 'તું'

પ્ર૦ તુમં, તું (તં)	તુજ્ઞે, તુમ્હે
ક્રિ૦ (તં, તું) તુમં	તુજ્ઞે, તુમ્હે, વો
તુ૦ તદ્, તપ્, તુમપ્, તુમે, (તુમાદ્) તે, દે	તુજ્ઞેહિં, તુમ્મેહિં, તુમ્હેહિં
પં૦ તત્તો (તદ્તો, તુમાદો, -તુ, તુમાદિ)	તુમ્હાદિંતો, -સુંતો
વ૦ (તુમો) તુહ, તુજ્ઞ, તુમ્હ, તુમ્મ, તુવ, તુઅ, તે, દે	વો, (મે) તુજ્ઞાણં, તુમ્હાણં
સ૦ તદ્, તુદ્, તપ્, (તુમપ્, તુમે તુમમ્મિ	તુજ્ઞેસુ, તુમ્હેસુ

પ્રથમનાં ત્રણ સંખ્યાવાચક શબ્દોનાં પ્રાકૃતરૂપ એક અગર પક્ક, દો (પ્રથમ અને ક્રિતી-વો, તુવે, દોણિ; વષ્ટી-વોણં), તિ (પ્રથમ-તિણિ, વષ્ટી-તિણં) થાય છે. વર્ષ ને બદલે હ થાય છે.

વિભાગ ૪.

ક્રિયાપદ પ્રકરણ

બરી રીતે જોતાં પ્રાકૃતમાં એકજ ગણ (= સંસ્કૃતનો પહેલો અને છઠ્ઠો) છે. સામાન્ય રીતે બધા ધાતુઓને આજ ગણમાં લાવવાનો પ્રયત્ન કરવામાં આવે છે, તો પણ અન્યાન્ય ગણનાં કેટલાંક રૂપો નાટકમાં જોવામાં આવે છે.

નામ પ્રક્રિયામાં જણાવ્યા પ્રમાણે ક્રિયાપદમાં પણ દ્વિવચનરૂપ થતાં નથી.

કર્તારિ પ્રયોગમાં ફક્ત વર્તમાનકાળ, સામાન્ય ભવિષ્યકાળ, તથા આશ્ચર્ય જોવામાં આવે છે.

વર્તમાનકાળનાં રૂપો.

એક વચન.	બહુવચન.
પ્ર૦ વુ૦ હસામિ, હસમિ.	હસામો, -મુ, -મ, હસિમો, -મુ, -મ
હસમિહ	હસમો, -મુ, -મ, હસમ્હો, -મ્હ
ક્રિ૦ વુ૦ હસસિ	હસહ (ગદમાં હસધ, -ધં)
	હસિત્થા (હસત્થ ?)
તુ૦ વુ૦ હસદિ ^૧ હસદ્	હસન્તિ ^૨
મધ્યમ પ્રયોગમાં ત્રણે પુરૂષનાં એકવચનનાં રૂપો થાય છે, જેમ કે ૧. મણે, ૨. સહસે, ૩ સહવે, અથવા સહપ.	

આશ્ચર્ય.

એક વચન	બહુવચન.
૧. હસમુ (વર૦ ૭. ૧૮)	હસામો, -મ હસમો, -મ, હસમ્હ.
૨. હસસુ, હસ, હસાદિ, હસસ્સ	હસહ, હસધ, -ધં
૩. હસદુ ^૧ , હસડ	હસન્તુ.

૧. આ ગદમાં વપરાયું રૂપ છે. તેજ પ્રમાણે હું વાળાં સામાન્યરૂપ, તથા હવ વાળા ભૂત કૃદંત પણ ગદમાં વપરાતાં રૂપો છે.

૨. અસ્ 'થત્' નાં રૂપો નીચે પ્રમાણે છે. એક વચન. ૧. મમ્હિ, ૨. અસિ, ૩. આત્થિ, બહુવ૦ અમ્હો, અમ્હ, ૩ સન્તિ. તેજ પ્રમાણે ઐન્દ્રલીટીકમાં એક વ૦ ૧ મ્હિ, ૨ સિ ૩ ત્થિ, બહુવ૦ ૧ મ્હો, મ્હ, ૨ ત્થ.

અનધાતનભૂતમાં એકવ૦ ૧. આસિ, આસિ, ૨. ૩. આસિ,

કેઈ પણ પુરૂષપ્રત્યયની પહેલાં જ ને બદલે વ વિકલ્પે કરી શકાય છે (વર૦ ૧, ૩૪), જેમ કે હસેમિ, વિગેરે; હસેદિ, હસેદુ, વિ૦; બીજા શબ્દોમાં કહીએ તો, અય નું ટુંકું રૂપ વ હોવાથી એમ કહી શકાય કે પ્રાકૃતમાં ક્રિયાપદોનાં રૂપો સંસ્કૃતના દસમા ગણના ક્રિયાપદો પ્રમાણે વિકલ્પે થાય છે. ઇકારાંત અને ઉકારાંત પહેલા ગણના સંસ્કૃત ક્રિયાપદોના અય અને અવ ને બદલે વ અને ઓ મૂકવામાં આવે છે, જેમ કે જયતુ—જેદુ, મવસિ—મ્વોસિ; અથવા તો ઈ નો લોપ થાય છે, અને વ ને રાખવામાં આવે છે, જેમ કે જઅદુ, હવસિ. ઋકારાંત ક્રિયાપદોમાં અર મૂકવામાં આવે છે, જેમ કે હરતિ—હરદ્, મ્રિયતે—મરદ્. ચોથા ગણના ધાતુઓમાં અંત્ય વ્યંજન બેવડાય છે, જેમ કે કુપ્યસિ—કુપ્પોસિ, અથવા ઈ નો લોપ કરીને બુદ્બ રૂપ કરવામાં આવે છે, જેમ કે બુચ્ચસિ—બુજ્જસિ. સાતમા ગણના ધાતુઓમાં અનુનાસિક ઉમેરવામાં આવે છે, અને પછી બીજા ગણોની માફક તેમનાં રૂપો અલાવવામાં આવે છે, જેમ કે રુણદ્ધિ—રુન્ધદિ, રુન્ધદ્, રુન્ધેદ્. પાંચમા ગણના ધાતુઓમાં ણ ઉમેરવામાં આવે છે, જેમ કે શૃણોમિ—સુણામિ, શૃણવન્તુ—સુણન્તુ; કેટલીક વાર સંસ્કૃત રૂપો પણ રાખવામાં આવે છે, જેમ કે ચિળોમિ; સુણ તથા સુણાદિ. નવમા ગણમાં ણ અને ણ બેઉ વપરાય છે, જેમ કે જાણાદિ અને જાણદિ (જાનાતિ). તે ઉપરાંત જાણાદિ અને જાણીદિ રૂપો પણ બોવામાં આવે છે.

વિધ્યથનાં માત્ર કેટલાંક ત્રુટિત રૂપો જ બોવામાં આવે છે, જેમ કે ૧. મવેઅં, જીવેઅં, ૩. મવે, હરે (પણ બુચ્ચો વેબરનું સત્તશ૦, પા. ૬૨.)

પ્રાકૃતમાં લવિષ્યકાળનાં ઘણાં રૂપો છે.

(અ) આસ ઉપયોગમાં આવતાં રૂપોના પ્રત્યયો નીચે પ્રમાણે છે.

એકવચન. ૧. સ્સં, સ્સામિ. ૨. સ્સસિ. ૩. સ્સદિ, સ્સદ્.

બહુવચન. ૧. સ્સામો. ૨. સ્સધ, સ્સદ્. ૩. સ્સન્તિ.

આ પ્રત્યયો લગાડતાં પહેલાં જ લગાડવામાં આવે છે, જેમ કે હસિસ્સં; વિગેરે. મૂળ સંસ્કૃત પ્રત્યય વ્ય નું આ સ્સ તે પ્રાકૃત રૂપ છે.

(બ) બીજા પ્રત્યયોમાં સ્સ ને બદલે ઞ્ચ વપરાય છે, જેમ કે સોચ્છં (શ્રુ નું પ્રથમ પુરૂષી એકવચન). (બુચ્ચો વર૦ ૭, ૧૬, ૧૭.)

(ક) ત્રીજા ભતનાં પ્રત્યયોમાં સ્સ ને બદલે હિ વપરાય છે, જેમ કે હસિહિમિ વિગેરે. આ ઉપરાંત પહેલા પુરૂષ એકવચન અને બહુવચનનાં હસિહામિ અને હસિહામો એવાં રૂપો થાય છે. [વળી, કાહં (ક્રુ નું રૂપ), દાહં (દા નું રૂપ) પણ થાય છે; વર૦ ૭. ૨૬; કાહં રૂપ વેબરના સત્તશ૦ પા૦ ૧૯૦ માં વપરાયેલું છે.]

[વળી, જ્ઞ, અને જ્ઞા પ્રત્યયો લગાડતાં કેટલાંક વિરલ રૂપો બને છે, (વર૦ ૭, ૨૦-૨૨), જેમ કે હોજ્ઞ, હોજ્ઞા, હોજ્ઞહિદ્, હોજ્ઞાહિદ્, વિગેરે. કેટલાંક ઈઅ અને હીઅ અંતવાળા ભૂતાર્થ વચનનાં વિરલ રૂપો પણ દેખાય છે, (વર૦ ૭, ૨૩-૨૪) જેમ કે હુવીઅ, હોહીઅ (અસૂત); બુચ્ચો દેસન્સ ઈન્સ્ટ૦, પા૦ ૩૫૩-૮. સત્તશ૦ માં જ્ઞ અને જ્ઞા છેડાવાળાં કેટલાંક વિધ્યથ રૂપો વપરાયેલાં છે.]

પ્રાકૃતમાં કર્મણિ પ્રયોગમાં કર્તારિનાજ પ્રત્યયો વપરાય છે; અને ય પ્રત્યયને બદલે ઈઅ અથવા ઈજ પ્રત્યય લગાડે છે; જેમ કે પઢીઅદ્, પઢીઅદિ અથવા પઢિજ્ઞ (પઠ્યતે). કેટલીક વાર ય રાખવામાં આવતાં પૂર્વના વ્યંજન પ્રમાણે તેનું રૂપાંતર થાય છે, જેમ કે ગમ્મદ્ (ગમ્યતે); વિસ્સદ્ અગર વીસદ્ (દ્રશ્યતે).

પ્રેરક લેદના પણ બે રૂપો છે; એકમાં સંસ્કૃતના અચ્ચ નો વ કરવામાં આવે છે, જેમ કે કર=ક્રુ ઉપરથી કારેદિ થાય છે (ધાતુમાંના પહેલા અક્ષરના જ નો જા કરવામાં આવે છે, વર૦ ૭, ૨૫)

ખીજમાં આવે (આવે-?) લગાડવામાં આવે છે; જેમ કે કારાવેદિ અથવા કરાવેદિ (અહીં, પ્રથમના અ નો વિકલ્પે આ થયો છે, વરં ૭. ૨૭).

જો ધાતુનો અંત્યાક્ષર વ્યંજનહોય તો તુમુન્ રૂપ કરતી વખતે તુમ્ લગાડવામાં આવે છે, પણ અંત્યાક્ષર સ્વર હોય તો દુમ્ લગાડવામાં આવે છે, જેમ કે વચ્ચ ઉપરથી વત્તું; ની ઉપરથી નેદું. ઘણીવાર વ્યંજનાંત ધાતુને ઈ અથવા ઍ લગાડીને ધાતુને સ્વરાંત બનાવવામાં આવે છે, અને ત્યાર પછી તેને દુમ્ પ્રત્યય લગાડવામાં આવે છે; જેમ કે રમિદુ (રન્તુ), કાવ્યમાં ઘણી વાર દ્વનો લોપ કરવામાં આવે છે, જેમ કે હસ્ ઉપરથી હસેરું, હસિરું.

સંસ્કૃતના ત્વા અંતવાળા કૃદન્ત બનાવવાને પ્રાકૃતમાં તૂળ અગર ડૂળ પ્રત્યય લગાડવામાં આવે છે, જેમ કે કા=કુ ઉપરથી કાડૂળ, ઘેત=ગ્રહ ઉપરથી ઘેતૂળ. સંસ્કૃતના ય અંતવાળા કૃદન્ત બનાવવાને પ્રાકૃતમાં ઇઅ લાગે છે, અને ગદ્યમાં ઘણાં ખરાં આના રૂપ વપરાય છે, જેમ કે ગેળહ્ ગ્રહ્ નું ગેળિહ્. કેટલોક વાર ગદ્યમાં ત્વા ને સ્થાને દુઅ વપરાય છે, જેમ કે કદુઅ (કૃત્વા); ગદુઅ (ગત્વા), વિગેરે. (વરં ૧૨. ૧૦).

કર્તારિ વર્તમાન કૃદન્તને અંતે અંત પ્રત્યય (અથવા, વરં ૭. ૩૪ પ્રમાણે ઇંત) લાગે છે; જેમ કે પઠંત, સુગંત. (વરં ૭. ૧૧) ના કહેવા પ્રમાણે સ્ત્રીલિંગનાં પઠઈ તેમજ પઠંતી એમ બે રૂપો થાય છે. મધ્યમ-પ્રયોગમાં વર્તમાન કૃદન્તનો પ્રત્યય માણ છે (સ્ત્રીલિંગમાં માણી અથવા માણા પ્રત્યય લાગે છે).

કર્મણિ-પ્રયોગમાં ન્ત અને માણ પ્રત્યયો લાગે છે, અને તેની પહેલાં ઇજ્ઞ પ્રત્યય લાગે છે, જેમ કે કરિજ્ઞન્ત (કાર્યમાણ), તેમજ, હજ્ઞન્ત (દહ્યમાન), રક્ષીઅમાણ (રક્ષ્યમાણ). ભૂત-કૃદન્તના રૂપો સંસ્કૃતપ્રમાણે થઈ તેમાં પ્રાકૃતના નિયમો પ્રમાણે ફેરફાર થાય છે, જેમ કે સુદ અથવા સુઅ=શ્રુત; લદ્ધ=લઘ્ધ; કેઈક વાર ઇ વચ્ચે ઉમેરવામાં આવે છે, જેમ કે ધરિદ (ધૃત), સુણિદ (શ્રુત). આ ઉપરાંત કેટલોક અનિયમિત રૂપો થાય છે, જેમ કે રુણ (રુદિત). વિધ્યથ કૃદન્તના ય નો તેની પહેલાંના વ્યંજન પ્રમાણે ફેરફાર થાય છે, જેમ કે વિણપ્પ (વિજ્ઞપ્ત), કજ્ઞ (કાર્ય); અનીય પ્રત્યયને બદલે અણીઅ, અથવા અણિજ્ઞ થાય છે, જેમ કે પૂઅણીઅ (પૂજનીય), કરણિજ્ઞ (કરણીય).

પ્રાકૃતમાં પરોક્ષભૂત કાળ નથી. તેના ઠેકાણે અકર્મક ધાતુના અર્થમાં ભૂતકાલવાચક ધાતુ-સાધિત વિશેષણ (કર્તારિ ક્તઃ) નો ઉપયોગ કરવામાં આવે છે. અને સકર્મક ધાતુના અર્થમાં તેવાજ રૂપની કર્તાની તૃતીયા અને સકર્મની પ્રથમા વિભક્તિ વડે કામ લેવામાં આવે છે.

અવ્યયોવિષે પ્રાકૃતમાં વિશેષ જાણવા જેવું કાંઈ નથી. ક્રૂંત એટલુંજ જાણવું જોઈએ કે કૃતિ ને બદલે ત્તિ મૂકવામાં આવે છે, જેની પહેલાં આ, ઈ અથવા ડુ ને -હસ્વ બનાવવામાં આવે છે, અને અનુસ્વારની પછી આવે તો તિ થઈ જાય છે. -હસ્વ સ્વર અગર ઍ, ઔ પછી^૧ જાણી આવે તેનો જો થાય છે, તથા દીર્ઘ સ્વરની પછી (તથા અનુસ્વાર પછી પણ) જુ થાય છે. તેજ પ્રમાણે ઍવ ને બદલે જ્ઞેવ્વ અથવા જેવ્વ, અને ઍવ્વ તેમજ ઍઅ થાય છે. ઈવ ને બદલે વિઅ તથા વ્વ થાય છે; અપિ બે સ્વર પછી આવે તો તેનું વિ અથવા વિ થાય છે, અને અનુસ્વાર પછી આવે તો પિ થાય છે, તથા વાક્યના આરંભમાં અવિ થાય છે.

આ સ્થળે માગધી ભાષાનું નામ જણાવવાની જરૂર ગણું છું. તેમાં સ્ અગર ઍ ને બદલે જ્ઞ

૧. કાવ્યમાં સ્વરની પહેલાં આવેલું અનુસ્વાર પોતાની સાથેના અંત્યસ્વરને દીર્ઘ બનાવે છે. પણ જો અનુસ્વારને મ્ તરીકે લખવામાં આવે તો તે સ્વર -હસ્વ જ રહે છે, અને ત્યાર બાદ એ બે શબ્દોની સંધિ થાય છે; બુઓ વેબર, સપ્તશ્લો ૫૦ ૪૭.

થાય છે, તથા રૂ ને બદલે લૂ થાય છે; જૂ ને બદલે ચૂ તેમજ ર્ય=જૂ ને બદલે ચ્ય થાય છે; અ કારાંત નામના પ્રથમા એક વચનમાં છેવટે ય અગર રૂ આવે છે, જેમ કે માશે (માષ:).

ઉપરના નિબંધમાં, ધરવાપ્રમાણે, સાધારણ વિદ્યાર્થીઓને કાળિદાસ અગર ભાવસૂતનાં નાટ-કામાંનું પ્રાકૃત સમજવા માટે જોઈએ તેટલું જ્ઞાન આપવામાં આવ્યું છે. અલબત્ત, મૃચ્છકટિક અગર વિક્રમોર્વશીયનું પ્રાકૃત સમજવાને કેટલાક વિશેષ જ્ઞાનની જરૂર છે.

૧. જેને પ્રાકૃતનો અભ્યાસ વધારવો હોય તેમણે નીચેના ગ્રંથોનું અવલોકન કરવું:—

1 Lassen's Institutiones Linguae Pracritical, 1837. 2. Weber's સત્સતત્ક of હાલ with his excellent introduction, 1870. 3. વરુચિ નો પ્રાકૃતપ્રકાશ, ૧૮૫૪. 4. પ્રાકૃત બાલ-ભાષા-(માગધી)-વ્યાકરણ of Hemchandra, Bombay, 1873; આ ગ્રંથની વિવેચનાત્મક આવૃત્તિ ડૉ. પીશ્વેલે તૈયાર કરે છે. તે ગ્રંથ ખાસ કરીને જૈન પ્રાકૃત માટે ઉપયોગી છે.



પરિશિષ્ટ:—જર્મન ઓરિએન્ટલ સોસાયટીના 'અલ-હુજેન' ના પાંચમા પુસ્તકમાં પ્રો. વેબરે પ્રકટ કરેલા હાલકવિના સત્સતત્કમાંથી આચાર્યવૃત્તની દસ ગાથાઓ નીચે આપી છે.

૧. પાથપડિઅસ્સ પડ્ડણો પુઠ્ઠિ પુત્તે સમારહંતમ્મિ ।
વદમણ્ણુદૂમિઆપ વિ હાસો ઘરિણીપ નિક્કન્તો ॥ (૧૧.)
૨. અજ્જ મપ તેણ વિણા અણ્ણુઅસુહાઈ સંમરન્તીપ ।
અહિણવમેહાણ રવો ણિસામિઓ વજ્જપહ્વો વ્વ ॥ (૨૬)
૩. તુજ્જ વસઈ ત્તિ હિઅઅં ઇમેહિ દિટ્ઠો તુમં તિ અચ્છીઈ ।
તુહ વિરહે કિસિઆઈ તિ તીપ અંગાઈ વિ પિઆઈ ॥ (૪૦)
૪. કલ્લં કિર સ્સરહિઅઓ પવસઈ પિઓ ત્તિ સુણીઅઈ જણમ્મિ ।
તહ વડ્ઢ મઅવઈ ણિસે જંહ સે કલ્લં વિઅ ણ હોઈ ॥ (૪૫.)
૫. અઈંસણેણ પેમ્મં અવેઈ અઈંસણેણ વિ અવેઈ ।
પિસુણજણજરિપ્પણ વિ અવેઈ, પમેઅ વિ અવેઈ ॥ (૮૦.)
૬. દક્ષિણેણ વિ પન્તો સુહઅ સુહાવેસિ અમ્મં હિઅઆઈ ।
ણિક્કઈઅવેણ જાણં ગઓ સિ, કા ણિલ્લુદી તાણ ॥ (૮૪.)
૭. તઈઆ કઅગ્ગ મહુઅર ણ રમાસિ અણ્ણાસુ પુપ્પકજ્જોઈસુ ।
વદ્ધફલભારગરૂં માલઈમેઁઁહ પરિઅસિ ॥ (૯૧)
૮. ઉપ્પણ્ણત્થે કજ્જે અઈચિન્તન્તો ગુણાગુણે તમ્મિ ।
અઈસુપ્પરસણ્ણપેચ્છિ-ત્તણેણ પુરિસો હરઈ કજ્જં ॥ (૨૧૮.)
૯. કલહંતરે વિ અવિણિ-ગ્ગમાઈ હિઅઅમ્મિ જરસુવ્વઅત્તં ।
સુઅળકઆઈ રહસ્સા-ઈ ડહઈ આલક્કઅ અગ્ગી ॥ (૩૨૮.)
૧૦. ઘોલીણોલચ્છિઅરૂ-અજોબ્બણા પુત્તિ કિણ્ણ દૂમેસિ ।
વિટ્ઠપ્પણદ્ઢપોરા-જણવવા જમ્મમૂમિ વ્વ ॥ (૩૪૨.)



॥ ॐ अहम् ॥

॥ नमोऽस्तु श्रमणाय भगवते श्रीमहावीराय ॥

॥ उपकेशगच्छीया पट्टावलिः ॥

॥ श्रीमत्पार्श्वजिनैन्द्राय नमः ॥ श्रीमत्केशीकुमारगणधरेभ्यो नमः ॥ श्रीमद्रत्नप्रभसूरि-
सद्गुरुभ्यो नमः ॥ ओकेशशब्दस्यार्थाः लिख्यन्ते ॥ इति शिक् ऐश्वर्ये, ओकेषु गृहेषु इष्टे पूज्यमाना सती या
सा ओकेशा सत्यिका नाम्नी गोत्रदेवता । अत्र ओक शब्दो अकारांतः तस्यां भवस्तस्या अयमिति वा ओकेशः ।
भवे इत्यण् प्रत्ययः, तस्येदमित्यनेन वा अणप्रत्ययः । सत्यिका देवी हि नवरात्रादिषु पर्वसु अस्मिन् गणे
पूज्यते सा चास्य गणस्य अधिष्ठात्री अतएवास्य गच्छस्य ओकेश इति यथार्थं नाम प्रोच्यते सद्भिरिति
प्रथमोऽर्थः ॥ १ ॥

ईशानमीशः ऐश्वर्य ओकैर्महद्भिक्केशाद्भ्रमस्वलोकानां गृहैरीशो यस्यां सा ओकेशा ओसिका
नयरी । तत्र भव ओकेशः । ओसिकानगर्यां हि अस्य गणस्य ओकेश इति नाम श्रीरत्नप्रभसूरीश्वरतो
विख्यातं जातमिति द्वितीयोऽर्थः ॥ २ ॥

अः कृष्णः उः शंकरः को ब्रह्मा । एषां द्वंद्वसमासे ओकास्ते ईशते पूज्यमानाः संतो देवत्वेन
मन्यमानाः संतश्च येभ्यस्ते ओकेशाः । ओके कृष्णशंभुब्रह्मभिर्देवैरीशते येते वा ओकेशाः । परशासन-
जनाः क्षत्रियराज्यपुत्रादयः प्रतिबोधविधानात्तेषामयं ओकेशः । तस्येदमित्यण्प्रत्ययः । श्रीरत्नप्रभसूरि-
भिस्तेषां पारतीर्थिकधर्मनिष्ठातः सिद्धान्तोक्तविशुद्धजैनधर्मनिष्ठायां प्रतिबोधदानेन प्रवर्तना कृता । तथा
च श्रूयते पूर्वं हि श्रीरत्नप्रभसूरीणां गुरुवः श्रीपार्श्वपत्नीयकेशीकुमारानगारसंतानयित्वेन विख्यातिमतो
जगति जज्ञिरे । ततः प्राप्तसूरिमंडाः सप्ततंत्रा रमणीयाऽतिशयनिचयाः स्वकीयनिस्तुषेशमुखीप्राग्भार-
संभारात् ज्ञातदिशसूरयः श्रीमच्छ्रीरत्नप्रभसूरयः कियति गते काले विहरंतः संतः श्रीओसिका-
नगर्यां समवसृताः । तस्यां च सर्वे लोकाः पारतीर्थिकधर्मधारिणो संति । न कोपि जैनधम्मधारी । ततः सा-
ध्वाचारं प्रतिपालयद्भिः सिद्धान्तोक्ततीर्थकरधर्मशुभकर्मप्ररूपणां कुर्वद्भिः सद्भिः श्रीरत्नप्रभसूरिभिः पार-
तीर्थिकानेकच्छेकविवेकिलोकाः प्रतिबोधितास्ततः एते ओकेशा इति विरूढो विख्यातो जातः । इति तृतीयो
अर्थः ॥ ३ ॥

अः कृष्णः, आः ब्रह्मा, उः शंकरः, एषां द्वंद्वे आवस्ततः ओभिः कृष्णब्रह्मशंकरैर्देवैः कायते
स्तुषते देवाधिदेवत्वादिति ओकः प्रस्तावात् श्रीवर्धमानस्वामी कचिदिति ड प्रत्ययः, ओकश्चासौ ईशश्च
ओकेशस्तस्यायं ओकेशः वर्तमानतीर्थाधिपतिश्रीवर्धमानजिनपतितीर्थाश्रयणादिति चतुर्थोऽर्थः ॥ ४ ॥

अः अर्हन्, अः स्यादर्हति सिद्धे चेत्युक्तेः । प्रस्तावादिह अ इति शब्देन श्रीवर्धमानस्वामी प्रोच्यते । ततः अस्य ओको गृहं चैत्यमिति यावत्, ओकः श्रीवर्धमानस्वामिचैत्यमित्यर्थः । तस्मादीशः ऐश्वर्यं यस्य स ओकेशः यतोयं गणः श्रीमहावीरतीर्थकरसान्निध्यतः स्फातिमवापेति पंचमोऽर्थः ॥ ९ ॥ एवमस्य पदस्यानेकेष्वर्थाः संबोभुवति परं किं बहुश्रमेणेति ॥

अथ उपकेशशब्दस्य कियंतोऽर्था लिख्यन्ते । उप समीपे केशाः शिरोरूहाः सत्यस्येति उप-केशः । श्रीपार्श्वपत्नीयकेशिकुमारानगारः । एतदुत्पत्तिवृत्तांतस्तुः श्रीस्थानांगवृत्त्यादौ सप्रपंचः प्रतीत एवास्ति । तत एवावगंतव्यः । ततः उपकेशः श्रीकेशिकुमारानगारः पूर्वजो गुरुर्विद्यते यस्मिन् गणे स उपकेशः । अत्रादित्वाद प्रत्ययः । अस्मिन्गच्छे हि श्री केशिकुमारानगारः प्राचीनो गुरुरासीत् । ततो यथार्थमुपकेश इति नाम जातमिति प्रथमोऽर्थः ॥ १ ॥

उपवर्जितास्त्यक्ताः केशा यत्र सः उपकेशः ओसिकानगरी तस्यां हि सात्यिका देव्याश्चैत्यमस्ति । तदग्रे च घनैर्जनैः प्रथमजातबालकानां सुदिने दिने मुंडनं कार्यते तत उपकेश इति यथार्थं नाम ओसिका-नगर्याः प्रख्यातं जातं । तत्र भवो यो गच्छः स उपकेशः प्रोद्यते सद्भिर्विद्वद्भिः । अत्र हि भवे इत्यनेन सूत्रेण अणि प्रत्यये संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद्वृद्धेरभावः । श्रीरत्नप्रभसूरितो अनेकश्रावक प्रतिबोध-विधानानंतरं लेके गच्छस्य उपकेशेति नाम प्रसिद्धं जातमिति द्वितीयोऽर्थः ॥ २ ॥

को ब्रह्मा, अः कृष्णः, अः शंकरः, ततो द्वंद्वे काः । तैरीष्टे ऐश्वर्यमनुभवति यः सः केशकानां ईशः ऐश्वर्यं यस्माद्वा केशः पारतीर्थिकधर्मः सः उपवर्जितस्त्यक्तो यस्मात्स उपकेशस्तीर्थकृदुक्तविशुद्धधर्मः स विद्यते यस्मिन् गच्छे स उपकेशः । अत्रापि अत्रादित्वादप्रत्ययः । इति तृतीयोऽर्थः ॥ ३ ॥

कं च सुखं ई च लक्ष्मीः कयौ ते ईशे स्वायत्ते यत्र यस्माद्वा स केशः—अर्थात् जनो धर्मः । स उपसमीपे अधिको वाऽस्माद्गच्छात्स उपकेशः इति चतुर्थोऽर्थः ॥ ४ ॥

कश्च अश्च ईशश्च केशाः—ब्रह्मविष्णुमहेशाः । तद्धर्मनिराकरणात्ते उपहता येन सः उपकेशः । प्रकरणादत्र श्रीरत्नप्रभसूरिः गुरुः तस्यायं उपकेशः । अत्रापि तस्येदमित्याणि प्रत्यये पूर्ववद्वृद्धेः अभावो न दोषपोषायेति पंचमोऽर्थः ॥ ५ ॥

इत्यमन्येऽप्यनेके अर्था ग्रन्थानुसारेण विधीयन्ते, परमलं बहुश्रमेणेति । एवमुक्तव्यक्तयुक्तिव्याक्ति-शक्त्या ओकेशोपलक्षणे उभे अपि नाम्नी यथार्थं घटां प्राचतः ॥ इति ओकेशोपकेशपदद्वयदशार्थी समाप्ता ॥

संवत् १६९९ वर्षे ॥ श्रीमद्विक्रमनगरे सकलवादिंवृंदकंदकुहालश्रीकक्कुदाचार्यसंतानीयश्रीमच्छ्री-सिद्धसूरीणां आग्रहतः श्रीमद्बृहत्खरतरगच्छीयवाचनाचार्यश्रीज्ञानविमलगणिशिष्यपंडितश्रीवल्लभगणिविराचि-ता चेषम् । श्रीरस्तु ॥

श्रीष्महेमंतिकान् मासान्, अष्टौ भिक्षुः प्रचक्रमे ।

रक्षार्थं सर्वजंतूनां वर्षास्वैकत्र संवसेत् ॥ १ ॥

मनुष्याणां सर्वेषु पदार्थेषु सारो धर्म एव । मनुष्यत्वं धर्मैर्णैव वर्ण्यते ॥ स धर्मो वर्षासु मुनिपार्श्वोत् श्रोतव्यः । यतयो वर्षास्वैकत्र तिष्ठन्ति, किमर्थं सर्व जंतूनां रक्षार्थं । धर्मस्य सारं सर्वं

जीवेषु दया । वर्षासु पृथ्वी जीवाकुला भवति संयमो विराध्यते । अतो जीवरक्षार्थं चतुर्मासकल्पं तिष्ठे-
ति । शिवशासने पि जीवदयास्वरूपमेवं व्यावर्णितं —

पश्यन् परिहरन् जंतून् मार्जन्या मृदुसूक्ष्मया । एकाहविचरेद्यस्तु चंद्रायणफलं भवेत् ॥ १ ॥

महाभारते कृष्णद्वीपायनेनाप्युक्तं—

यो दद्यात्कांचनं मेरुः कृत्स्नां चापि वसुंधरां । एकस्य जीवितं दद्यात् न च तुल्य युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

परेष्वेवं वदन्ति जैनवाक्यस्य किं वाच्यं । मुनयः क्षेत्रस्य त्रयोदश गुणान् वीक्ष्य तिष्ठन्ति

चखिल १ पाण २ थंडिल ३ वसहि ४ गोरस ५ जणा ६ उले ७ विज्जे ८ ।

ओसह ९ धन्ना १० हिवइ १० पासंडा ११ भिखु १२ सिज्जाय ॥ १३ ॥

एते त्रयोदश गुणाः । तत्र स्थिता दशधा समाचारी पालयन्ति—

इच्छा १ मिच्छा २ तहकारो ३ आवासिया ४ निसीहिया ५ आपुच्छणा य ६

पडिपुच्छ ७ छंडणा य ८ निमंतणा य ९ उपसंपयाकाले ॥ १० ॥ समाचारी भवे दसहा ॥ ११ ॥

पुनः धर्मशास्त्रण्युपदिशति । श्राद्धा वासनावासितचित्ताः शृण्वन्ति । परं चातुर्मासकात्पंचाश-
द्दिने व्यतिक्रान्ते कल्पावसरं ।

वीसहि दिणेही कप्पो पंचगहाणीय कप्पठवणायं ।

नव (९) सय तेणू (९३) एहिं वुच्छिन्ना संघआणाए ॥ १ ॥

अधुना कल्पावसरे अन्यग्रन्थादरो न यथा दिव्यकौस्तुभाभरणं प्राप्य अन्यरत्नाभरणेषु निरा-
दरत्वं जायते यथा च कुंडपातालामृतं प्राप्यांबुजलास्वादो न रोचते । भारतीभूषणकविजनवचनरच-
नामासाद्य सामान्यजनवचांसि न रोचते । चक्रवर्तिन अग्रे सामान्यराजानोऽपसरन्ति देवानां नंदीश्रवणे-
नान्यशब्दा हीनतां व्रजन्ति । गन्धहस्तिनो गंधे अन्यगजेंद्रा मदजलविकला भवन्ति । केवलज्ञानागमने अन्य
ज्ञाना अपसरन्ति । कल्पवृक्षाग्रेऽन्ये तरवाः न राजते । सूर्योदये खद्योतस्य का प्रभाः । मुक्तिसौख्याग्रे कानि
सौख्यानि । सिंहध्वनेः पुरो यथा अन्ये शब्दा न राजते तथा कल्पावसरे अन्यानि शास्त्राणि आदरो न ।
स कल्पो अनेकविधः—श्रीशत्रुंजयकल्पः गिरनारगिर कल्पः कदंब गिरिकल्पः अर्बुदाचलकल्पः अष्टापदकल्पः
समेतगिरकल्पः हस्तिनापुरकल्पः मथुरानगरीकल्पः सत्यपुरकल्पः शंखेसरकल्पः स्तंभनर्तार्थ
कल्पः यतीनां विहारकल्पः वस्त्रस्य कल्पसंज्ञा अनेन प्रकारेण अनेके कल्पसंज्ञाः । एके कल्पाः एवं
विधा वर्तन्ते । यस्य प्रमाणेन श्री पादलिप्ताचार्यो यावदायाति साधवो विहृत्य तावत् पंच तीर्थं नमस्कारं
विधायगच्छन्ति । एके कल्पास्ते उच्यन्ते येषां प्रमाणेन अदृशीकरणं आकाशगमनं स्वर्णसिद्धिः लक्ष्मी
प्राप्ति मित्र पुत्र बांधवस्वजन प्राप्ति प्रभृति लब्धयः संपद्यन्ते । परमयं कल्पोऽमेय महिमा निधिः इह लोका-
भीष्ट सौख्यकारणं । अयं कल्पो दशाश्रुतस्कंधस्याष्टममध्ययनं । नवमपूर्वात् श्री भद्रबाहु स्वामिनोद्धतः
अमेयमहिमानिधानः सर्व पापक्षयं करः यथा श्रूयमानः द्रुमेषु कल्पद्रुः सर्वकामफलप्रदः यथौषधीषु पीयूषं सर्वरोग
हरं परं रत्नेषु गुरुडोद्धारं यथा । सर्वविषापहारः मन्त्राधिराजो मन्त्रेषु यथा सर्वार्थ साधकः । यथा
पर्वसु दीपाली सर्वात्मा सुखावहा तथा कल्पः सद्धर्मे शास्त्रेषु सर्व पापहरस्तथा सर्व सिद्धान्त मध्ये

श्रीकल्पो गुरुतरः यथा पर्वतानां मध्ये मेरुः तीर्था माहि शत्रुजयः दानमध्ये अभयदान अक्षरमध्ये
 ॐकार देवेष्विन्द्रः ज्योतिषीषु चंद्र गजेन्द्रेष्वैरावण समुद्रेषु स्वयंभुरमणः तुरंगमेषु रेवत ऋतुषु वसंत
 मृतिकयां तूरी सुगंधीषु कस्तुरी धातुषु पीतं मोहनेषु गीतं काष्ठेषु चंदनं इंद्रियेषु नेत्रं व्यवहार पर्वसु
 दीपालिका धर्मशास्त्रेषु कल्पः सर्व पापहरः सर्व दुःखक्षयकरः । यथा जनमेजय राजा अष्टादश पर्व
 श्रवणात् १८ विप्र हत्यात्यागः यवनिका श्यामत्वं जातं । यथा एकस्मिन् दिवसे जनमेजय राजाग्रे
 पुरोहितेन कथितं पूर्वं त्रेतायुगे पांडवैश्च कौरवैः कृता अष्टादशाक्षोहिणिमृताः महाभारतो जातः । राजा प्रोक्तं
 को नाभवत् यत्तेषां निवारयति पुरोहितेन कथितं त्वां न निवारयामि । यतः अद्य दिवसात् षष्ठे मासे
 त्वं आखेटके न गंतव्यं यदा गमिष्यति तदा सूकरमृगं तेषां केटके अश्वो न क्षेपणीयं यदा अस्वो क्षेपयति
 तदा सगर्भो मृगी तस्यां बाणं न मोचनीयं यदा मुंचति तदा तस्या उदरं मध्ये पुत्रिका भविष्यति
 सा न गृहीतव्या यदा ग्राहयति तदा तस्या पाणिग्रहणं न करणीयं यदा प्राणिग्रहणं करोति तदा तस्या
 पट्टराज्ञीपदं न दातव्यं तस्या कथितं न मान्यं । इत्यादि भविष्यति वचनानि मया तव कथिताः स्युः परं
 त्वं न तिष्ठसि । अथ षट् मासाः द्वित्रिदिवसोना गता तदा मालाकारेणागत्य राज्ञः कथितं भो राजन्
 तव वनो सूकरैः भग्नः । राज्ञा अश्वं सज्जीकृत्य तेषां पृष्ठे गतः । ते पूर्वोक्तानि वचनानि सर्वे कृता गढवालस्य
 पुत्रिका दत्ता एषा त्वं पालय तेन पालिता परं स्वरूपा । अन्यदा राज्ञा दृष्टा सा परिणीता पूर्ववचनानि
 सर्वे विस्मृताः राज्ञा पट्टराज्ञी कृता । अन्यदा राज्ञा यज्ञो मंडितः अष्टादशपुराणावेत्तारः अष्टादश ब्राह्मणा
 आकारिताः यज्ञं यजमानं कश्चिद्दूतेन देशान्तरादागतेन नृपोः आहूतः राज्ञा विप्राणां कथितं अहं उत्तिष्ठामि
 ते कथितं नहि यज्ञस्य विघातो भवति परं तव शरीरसमाना पट्टराज्ञी अस्ति राजा उत्थित ततः कटके
 किञ्चिच्छात्रस्य रहस्यो आगतः ते ब्राह्मणाः हसिताः राज्ञी ज्ञातं एते मम हसिता क्रुद्धा राज्ञः कथितं एते
 विनष्टा मां हसति ततः यदि एते मारयिष्यति तदा तव मम संबंधः । राज्ञा ते मारिता अष्टादशधा
 कुष्टा जातं । ततः पूर्वपुरोहितेन कथितं वरं त्वया न कृतं राज्ञा कथितं अधुना कथय किं करोमि तेन
 कथितं अष्टादश पुराणानि निसेदेहानि शृणु । ते चामि—आदि पर्व १ सभा पर्व २ विराट पर्व ३
 आरण्यक पर्व ४ उद्यान पर्व ५ भीष्म पर्व ६ द्रोण पर्व ७ कर्ण पर्व ८ शल्य पर्व ९ सौतिक पर्व १० गर्भ-
 पाल पर्व ११ शान्ति पर्व १२ शासन पर्व १३ आसुमास्य पर्व १४ मेषक पर्व १५ मूशल पर्व १६ यज्ञ
 पर्व १७ स्वर्गारोहण पर्व १८ ॥ एभिरष्टादशविप्रहत्याक्षयकृतायवनिकाश्यामत्वं जाताः । तथा अयमपि
 अधुना ये मुनयः उपवासत्रयेण वाचयन्ति चतुर्विधसंग्रहो अष्टमेन शृणोति तदा तस्मिन्नेव भवे मोक्षः ।
 यदि द्रव्यक्षेत्रकालसद्भावा भवन्ति । न चेत्तदा तृतीयभवे पंचमे भवे सप्तमे भवे अवश्यं मोक्षः । पूर्वं मुनयः
 पाक्षिकसूत्रवत्तुल्यार्थस्थाः कथयन्ति चतुर्विध संग्रहो अष्टमेन शृणोति परं श्रीवीरनिर्वाणात् ९९३ वर्षे गते
 आनंदपुरे ध्रुवसेनराज्ञः सभायां पुत्रशोकापनोदाय देवार्द्धिमुनिना सभासमक्षं वाचितः श्रावकाः तांबूलदाना-
 दिप्रभावना कृता । तद्दिनादाम्य सा रीतिः । परं त्वस्य कालस्य वाचनैवोच्यते न तु व्याख्या । पूर्वं ये पाद-
 लिप्ताचार्ये—सिद्धसेनदिवाकरप्रभृतयो अभूवन् तैरपि वाचनैवोक्ता अन्येषां का वार्ता । यतः सिद्धान्ते
 इत्युक्तमस्ति सत्त्वनर्हणं जइहु वालुआ इत्यादि । एवंविधस्य कल्पस्य यदहं वाचनामनोरथं करोमि स बाहुभ्यां
 समुद्रतरणमभिलषामि । यथा कुब्ज उच्चफलं लातुमिच्छति तथाऽहं यदिच्छामि वाचनां ; कर्तुं तत् संवस्य
 सोनिध्यं पुनः गुरुणां प्रासादः । यद्वर्षाकाले मयूरो नृत्यं करोति तज्जलधरगार्जितप्रमाणं । दृषद्वृषध्वं-

कांतमणिर्बद्धमृतं स्मृतं तच्चन्द्रस्य प्रमाणं । सूर्यसारथी रविः आरूढः पंगोपि यदाकाशमुल्लङ्घयति तत्सूर्यस्य प्रमाणं । पुत्तालिका नृत्यं करोति तद्विदजालिकस्य प्रमाणं । तथाऽहं मन्दबुद्धिः पूर्वशिरोमणिः प्रमाणे संप्रमाणता नास्ति, लक्षणे सल्लक्षणता न, अलंकारस्याऽलंकरणं नहि, साहित्ये साहित्यं नास्ति, छंदसि सुछंदता न; एवंविधोऽपि वाचनाय साहसं करोमि तत् सद्गुरुणां प्रसादः । पुरातनैर्व्याख्या कृता । ममापि युक्तिः । कथं

जं देवो सायरो लहरिगज्जंतनीरपडिपुत्रो । ता किं गामतलाओ जलभरिओ लहरिगा देऊ ॥ १ ॥

जइ भरह भावछेदे नचइ नवरंग चंगमा तरूणी । ता किं गामगहिल्ली तालिछंदेन नचैइ ॥ २ ॥

जइ दुद्धधवलखीरी तडफडइ विविहभंगेहि । ता कुत्तकसकणसहिया रवडिया मा तडवडह ॥ ३ ॥

अहं यद्वेदि तद्गुरुणां प्रसादः ।

ठोलो रोलो रुलंतो अहियं विन्नाण नाण परिहीणो । दिव्वुव वंदणिज्जो विहिओ गुरुसुत्तहारेण ॥ ४ ॥

ते गुरवः श्रीपार्श्वनाथसंतानीयाः ।

१ श्रीपार्श्वनाथशिष्यः प्रथमो गणधरः श्रीशुभदत्तः । २ तत्पट्टे श्रीहरिदत्तः । ३ तत्पट्टे श्रीआर्यसमुद्रः ।

४ तत्पट्टे श्रीकेशीगणधरः तेन परदेशीनृपः प्रतिबोधितः । राजप्रश्रीयउपागे प्रसिद्धः ।

५ तत्पट्टे श्रीस्वयंप्रभसूरिः । (स्वयंप्रभसूरिशिष्य बुद्धकीर्तिसुं बौधमत निकल्यो, आचारांग टीकासु जाणनो) अन्यदा स्वयंप्रभसूरि देशनां ददतां उपरि रत्नचूडविद्याधरो नंदीस्वरे गच्छन् तत्र विमानः स्तंभितः । तेन चिंतितः मदीयो विमानः केन स्तंभितः । यावत् पश्यति तावदधो गुरुं देशनाददंतं पश्यति । स चिंतयते मयाऽविनयः कृतः यतः जंगमतीर्थस्य उल्लंघनं कृतं । स आगतः गुरुं वंदति धर्मं श्रुत्वा प्रतिबुद्धः । स गुरुं विज्ञपयति मम परंपरागता श्रीपार्श्वजिनस्य प्रतिमास्ति तस्या वंदने मम नियमोऽस्ति सा रावणलंकेश्वरस्य चैत्यालये अभवत् । यावत् रामेण लंका विध्वंसिता तावद् मदीयपूर्वजेन चंद्रचूडनरनाथेन वैताल्ये आनीता । सा प्रतिमा मम पार्श्वेस्ति । तया सह अहं चारित्रं ग्रहीष्यामि । गुरुणा लाभं ज्ञात्वा तस्मै दीक्षा दत्ता । क्रमेण द्वादशांगी चतुर्दश पूर्वी बभूव गुरुणा स्वपदे स्थापितः । श्रीमद्वीरजिनेश्वरात् द्विपंचाशतवर्षे (५२) आचार्य पदे स्थापितः । पंचाशतसाधुभिसह धरां विचरति । श्रीलक्ष्मीमहास्थानं तस्याभिधानं १ पूर्वं नाम गुजरातिमध्ये कृतयुगे रयणमाला २ त्रेतायुगे रयणमाला ३ द्वापरे श्रीवीरनयरी ४ कलियुगे भनिमाल ५ तत्र श्रीराजाभीमसेन तत्पुत्रश्रीपुंज तत्पुत्र उत्पलकुमार अपरनाम श्रीकुमार तस्य बांधव श्रीसुरसुंदर युवराज राज्यभारधुरंधर । तयोरमात्य चांद्रवंशीय द्वौ भ्राता तत्र निवासी सा० उहड १ उद्धरण २ लघु भ्राता गृहे सुवर्ण संख्या आष्टादश कोट्यः संति । वृद्धभ्रातुर्गृहे ९९ नवनवति लक्षा संति । ये कोटी-श्वरास्ते दुर्गमध्ये वसन्ति ये लक्षेश्वरास्ते बाह्ये वसन्ति । तत उहडेन एकलक्ष भ्रातुः पार्श्वे उच्छीर्णं याचितं । ततो बांधवेन एवं कथितं भवते विना नगरं उध्वसमस्ति, भवतां समागमे वासो भविष्यति । एवं ज्ञात्वा राजकुमार उहडेन आलोचितवान् नूतनं नगरं कसेयं ततो मम वचनं अग्रे आयातः । ढीलीपुरे राजा श्री साधु तस्य उहडेन ५५ तुरंगमा भेटिकृता उवएसा संतुष्टो ददौ । ततो भीनमालात् अष्टादश १८ सहस्र कुटुंब अगात् । द्वादश योजना नगरी जाताः । तत्र श्रीमद्रत्नप्रभसूरीपंचसयासीष्य समेतं लुणद्रही समायाति । मासकल्प अरण्ये स्थिता । गोचर्या मुनीश्वरा व्रजन्ति परं भिक्षा न लभते । लोका मिथ्यात्व वासिताः यादृशा गता तादृशा आगता मुनीश्वराः । पात्राणि प्रतिलेप्य मांसं यावत् संतोषेण स्थिताः पश्चात् विहारः कृतः । पुनः कदाचित् तत्रायातः । शासनदेव्या कथितं भो आचार्य अत्र चतुर्मासकं कुरु ।

तव महालामो भविष्यति । गुरुः पंच त्रिंशत् मुनिभिः सह स्थितः । मासी द्विमासी तृमासी चतुर्मासी उपोसित कारिका । अथ मंत्रीश्वर ऊहड सुतं भुजगेन दष्टः । अनेक मंत्रवादिनः आहूताः परं न कोपि समर्थस्तैः कथितं अयं मृतः दाघो दीयतां । तस्य स्त्री काण्टभक्षणे स्मशाने आयाता । श्रेष्ठस्य महान् दुःखो जातः । वादित्रान् आकर्ण्य लघुशिष्यः तत्रागतः । झपाणो दृष्ट्वा एवं कथापयति भो ! जीवितं कथं ज्वालयत तैः श्रेष्ठिने कथितं एषः मुनीश्वरः एवं कथयति । श्रेष्ठिना झपाणो वालितः क्षुल्लकः प्रनष्टः गुरुः पृष्ठे स्थितः । मृतकामानीय गुरु अग्रे मुंचति श्रेष्ठि गुरु चरणे शिरं निवेक्ष्य एवं कथयति भो दयालु मम देवो रुष्टः मम ग्रहो शून्यो भवति । तेन कारणेन मम पुत्रभिक्षां देहि । गुरुणा प्रासु जलमानीय चरणौ प्रक्षाल्य तस्य छंटितं । सहसात्कारेण सज्जो बभूव हर्ष वादित्राणि बभूव । लोकैः कथितं श्रेष्ठि सुतः नूतन जन्मो आगतः । श्रेष्ठिना गुरुणां अग्रे अनेकमणि मुक्ताफल सुवर्ण वस्त्रादि आनीय भगवान् गृह्यतां । गुरुणा कथितं मम न कार्यं परं भवद्भिः जिन धर्मो गृह्यतां । सपाद लक्ष श्रावकानां प्रति बोधि कारक । पूर्वं श्रेष्ठिना नारायण प्रासादं कारयितुमारब्धं । स दिवसे करोति रात्रौ पतति सर्वे दर्शनिनः पृष्टा न कोपि उपायो कथितं तेन रत्नप्रभाचार्यो प्रष्टः—भगवान् मम प्रासादो रात्रौ पतति । गुरुणा प्रोक्तं कस्य नामेन कारयतः । नारायण नामेन । एवं नहि महावीर नामेन कुरु मंगलं भविष्यति । प्रासादस्य विलं न भविष्यति श्रेष्ठिना तथैव प्रतिपन्नं । अथ शासनदेव्या गुरुणां कथितं हे भगवन् अस्य प्रासाद योग्यं मया देव गृहात् उत्तरस्यां दिशी लूणद्रहाभिधानं डुंगरिकायां श्री महावीर बिंबं कारयितुमारब्धं । तत्र तेन श्रेष्ठिना गोपाल वचनात् गोदुग्ध स्त्रावकारणं ज्ञात्वा सर्वेपि दर्शनिनः पृष्टाः तैः पृथक् पृथक् भाषया अन्यदन्यदुक्तं । ततः श्रेष्ठिना स आचार्योऽभिवंद्य पृष्टः ततः शासन देव्या वाक्यात् आचार्यो ज्ञात्वा एवं कथयति तत्र त्वत्प्रासाद योग्य बिंबो भविष्यति परं षट् मासैः सार्द्धं सप्त दिनैः निष्कासनीयं । श्रेष्ठि उच्छ्लुक संजातः । किंचिदुनैर्दिनैः निष्कासितः निंबु फल प्रमाण हृदयस्थ ग्रन्थीद्वय सहितं । आचार्यैः प्रोक्तं अद्यापि किंचित् असंपूर्णं बिंबं विलंबस्व श्रेष्ठिना प्रोक्तं गुरुणां कर प्रासादात् संपूर्णं भविष्यति । तेनावसरे कोरंटकस्य श्राद्धानां आव्हानं आगतं । भगवन् प्रतिष्ठार्थमागच्छ । गुरुणा कथितं मुहूर्त वेलायां आगच्छामि ।

सप्तत्या ७० वत्सराणां चरम—जिनपतेर्मुक्तजातस्य वर्षे

पंचम्यां शुक्लपक्षे सुरगुरुदिवसे ब्रह्मणः सन्मूहुर्ते ।

रत्नाचार्यैः सकलगुणयुतैः सर्वसंभानुज्ञातैः

श्रीमद्वीरस्य बिंबे भवशतमथने निर्मितेयं प्रतिष्ठा : ॥ १ ॥

उपकेशे च कोरंटे तुल्यं श्री वीरबिंबयोः

प्रतिष्ठा निर्मिता शक्त्या श्रीरत्नप्रभसूरिभिः ॥ २ ॥

निजरूपेण उपकेशे प्रतिष्ठा कृता वैक्रिय रूपेण कोरंटके प्रतिष्ठा कृता श्राद्धे द्रव्यव्ययः कृतः । ततस्तेन श्रेष्ठिना श्रीऔपकेश पुरस्थ श्रीमहावीर बिंब पूजा आरात्रिका स्नात्रकरण देव वंदनादिविधिः श्रीरत्नप्रभाचार्यात् शिक्षिता । तदनंतरं मिथ्यात्वाभावात् श्रावकत्वं केषांचित् श्रेष्ठिसंबंधिनां संजातं । ततः आचार्येण ते सम्यक्त्वधारी कृता । एकदा प्रोक्तं भो यूयं श्राद्धा तेषां देवीनां निर्दयचित्ताया महिष बोत्कटादि

जीववधास्थि भंगशब्द श्रवण कुतुहलप्रियया अविरतायाः रक्तांकितभूमितले आर्द्रचर्मबद्धवदनमाले निष्ठुरजनसेवितं धर्मध्यानविद्यापके महाबीभत्सरोद्रे श्री सच्चिकादेवि गृहे गंतुं न बुध्यते । इति आचार्यवचः श्रुत्वा ते प्रोचुः प्रभो युक्तमेतत् परं रौद्रा देवी यदि छलिस्याम तदा सा कुटुंबान् मारयति । पुनराचार्यैः प्रोक्तं अहं रक्षां कारिस्यामि । इत्याचार्यवाक्यं श्रुत्वा ते देवी गृहे गमनात् स्थिताः । आचार्याणां प्रत्यक्षीभूय देव्या सकोपमित्युक्तं आचार्य मम सेवकान् मम देवगृहे आगच्छमानान् निवारणाय त्वं न भविष्यति । इत्युक्त्वा गता देवी परं सातिशय कालभावात् महाप्रभावात् अनेकसुरकृतप्रातिहार्ये आचार्यै देवी न प्रभवति । एकदा छलं लब्ध्वा देव्या आचार्यस्य कालवेलायां किञ्चित् स्वाध्यायादि रहितस्य वामनेत्र-भ्रूषिष्टिता । वेदानां जाता । आचार्यैः यावत् सावधानीभूय पीडायाः कारणं चितितं तावत् देवी प्रत्यक्षीभूय इति प्रोक्तं मया पीडा कृता । अहं स्वशक्त्या त्वां स्फोटयिष्यामि इति सावष्टंभ आचार्योक्तं श्रुत्वा सभयाकृतं सा विनयं प्रोक्तं भवादृशानां ऋषीणां विग्रहं विवादो न युक्तः । यदि त्वं कडडमडडं ददासि तदाहं वेदानां अपहरामि । आचंद्रार्कं त्वत्किंकरी भवामि इति श्रुत्वा आचार्यैः प्रोक्तं कडडमडडं दापयिष्यामि । इत्युक्ता गता देवी । प्रभाते श्रावकानामाचार्यैः पक्वान्न खज्जकादि सुंडकद्वयं कर्पूरकुंकुमादिभोगश्च आनीय श्रीसच्चिकादेवी देवगृहे श्रीरत्नप्रभाचार्यैः श्रावकैः सार्धं गतः । ततः श्रावकैः पार्श्वात् पूजां कराप्य वामदक्षिणहस्ताभ्यां पक्वान्नसुंडकादि चूर्णयद्भिः आचार्यैः प्रोक्तं देवी कडडमडडं दत्तमस्ति । अतः परं ममोपासिका त्वं इति वचनानंतरं एव समीपस्थ कुमारिका शरीरे आवेशः कृतः । ततः प्रोक्तं प्रभो मया अन्यं कडडमडडं याचितं अन्यं दत्तं । आचार्यैः प्रोक्तं त्वया वधो याचितः स तु लातुं दातुं न बुध्यते इत्यादिसिद्धान्तवाक्यं कुमारी शरीरस्था श्रीसच्चिकादेवी सर्वलोक प्रत्यक्षं श्रीरत्नप्रभाचार्यैः प्रतिबोधिता । श्रीउपकेशपुरस्था श्रीमहावीरभक्ता कृता सम्यक्त्वधारिणी संजाता । आस्तां मांसं कुसुममपि रक्तं नेच्छति । कुमारिका शरीरे अवतीर्णा सती इति वक्ति भो मम सेवका यत्र उपकेशपुरस्थं स्वयंभू महावीरबिंबं पूजयति श्रीरत्नप्रभाचार्य उपसेवति भगवन् शिष्यं प्रशिष्यं वा सेवति तस्याहं तोषं गच्छामि । तस्य दुरितं दलयामि यस्य पूजा चित्ते धारयामि । एतानि शरीरे अवतीर्णा सा कुमारी कथ्यतां । श्रीसच्चिकादेव्या वचनात् क्रमेण श्रुत्वा प्रचुरा जनाः श्रावकत्वं प्रतिपन्नाः । क्रमेण श्रीरत्नप्रभाचार्य ८४ वर्षे स्वर्गं गतः ।

८ तत्पट्टे यक्षदेवाचार्यैः माणभद्र यक्ष प्रतिबोध कर्त्ता संघस्य विघ्नो निवारितः ।

९ तत्पट्टे कक्कसूरि । १० तत्पट्टे देवगुप्तसूरि ।

११ तत्पट्टे सिद्धसूरि । १२ तत्पट्टे रत्नप्रभसूरि । १३ तत्पट्टे यक्षदेवसूरि ।

१४ तत्पट्टे कक्कसूरि । स्वयंभू श्रीमहावीर स्नात्र विधि काले, कोसौ विधिः कदा किमर्थं संजातः इत्युच्यते—तस्मिन्नेव देव गृहे अष्टान्हिकादिकमहोत्सवं कुर्वतास्तेषां मध्ये अपरिणतवयसा केषांचित् चित्ते इयं दुर्बुद्धिः संजाताः । यदुत भगवत् महावीरस्य हृदये ग्रन्थी द्रव्यं पूजां कुर्वतां कुशोभा करोति अतः मशकरोगवत् छेदयितां को दोषः । वृद्धैः कथितं अयं अघटितः टंकिना घातो न अर्हः । विशेषतो अस्मिन् स्वयंभू श्री महावीर बिंबे । वृद्धवाक्यमवगम्य प्रच्छन्नं सूत्रधारस्य द्रव्यं दत्त्वा ग्रन्थिद्वयं छेदितं तत्क्षणादेव सूत्रधारो मृतः । ग्रन्थिच्छेदप्रदेशे तु रक्त धारा छुटिता । तत उपद्रवो जातः । तदा उपकेश-गच्छाधिपति श्रीकक्कसूरिभिः पायम्भिः चतुर्विधसंघेनाहूता वृत्तांतं कथितं । आचार्यैः चतुर्विधसंघ-स-

हितं उपवास त्रयं कृतं । तृतीय उपवास प्रान्ते रात्रिसमये शासनदेवी प्रत्यक्षी भूय आचार्याय प्रोक्तं—हे प्रभो न युक्तं कृतं बालश्रावकैः मद घटितं बिम्बं आशातितं । कलानीशकृतं अतोन्तरं उपवेशनगरं शनैः २ उपभ्रंसं भविष्यति । गच्छे विरोधो भविष्यति । श्रावकाणां कलहो भविष्यति । गोष्ठिका नगरात् दिशोदिशं यास्यति । आचार्यैः प्रोक्तं परमेश्वरि भवितव्यं भवत्येव परं त्वं श्रवतु रुधिरं निवारय । देव्या प्रोक्तं घृत घटेन दधि घटेन इक्षुरस घटेन दुग्ध घटेन जल घटेन कृतोपवासत्रयं यदा भविष्यति तदा अष्टादशा गोत्रं मेलं कुरु; तेमी १ तातहृद गोत्रं । २ बापणा गोत्रं । ३ कर्णाट गोत्रं । ४ बल गोत्रं । ५ मोराक्ष गोत्रं । ६ कुल हट गोत्रं । ७ विरिहट गोत्रं । ८ श्री श्रीमाल गोत्रं । ९ श्रेष्ठिगोत्रं । एते दक्षिण बाहु । १ सुचंती गोत्रं । २ आइचणा गोत्रं । ३ चारवेडीया गोत्रं । ४ भाद्र गोत्रं । ५ चीचट गोत्रं (देशलहरासाखा) । ६ कुम्भट गोत्रं । ७ कनउजया गोत्रं । ८ डिडभ गोत्रं । ९ लघु श्रेष्ठि गोत्रं । एते वाम बाहु स्नात्रं कर्तव्यं नान्यथाऽशिवो शान्तिर्भविष्यति । मूल प्रतिष्ठानंतरं वीर प्रतिष्ठा दिवसातीते शतत्रये ३०३ अनेहसि ग्रंथियुगस्य वीरोरस्थस्य भेदोऽजनिदैव योगात् इत्युक्तं श्रीमदुपेकशगच्छचरित्र सूत्रे श्लोक—१७९

१९ तत्पट्टे श्रीदेवगुप्तसूरि । १९ तत्पट्टे सिद्ध सूरि । १७ तत्पट्टे रत्नप्रभ सूरि ।

१८ एवं अनुक्रमेण श्रीवीरात् वर्षे ९८९ श्रीयक्षदेवसूरिर्बभूव महाप्रभावकर्ता द्वादशवर्षे दुर्भिक्षमध्ये वज्र स्वामी शिष्य वज्रसेनस्य गुरोः परलोकप्राप्ते यक्षदेवसूरिणा चत्वारि शाखाः स्थापिताः—

१९ तत्पट्टे कक्कसूरि । २० तत्पट्टे देवगुप्तसूरि । २१ तत्पट्टे सिद्ध सूरि ।

२२ तत्पट्टे रत्नप्रभसूरि । २३ तत्पट्टे यक्षदेवसूरि । २४ तत्पट्टे कक्क सूरि ।

२५ तत्पट्टे देवगुप्तसूरि । २६ तत्पट्टे सिद्ध सूरि । २७ तत्पट्टे रत्नप्रभसूरि ।

२८ तत्पट्टे यक्षदेवसूरि । २९ तत्पट्टे कक्कसूरि । ३० तत्पट्टे देवगुप्तसूरि ।

३१ तत्पट्टे सिद्धसूरि । ३२ तत्पट्टे रत्नप्रभसूरि । ३३ तत्पट्टे यक्षदेवसूरि ।

३४ तत्पट्टे ककुदाचार्य । तत्पट्टे देवगुप्ताचार्य । तत्पट्टे सिद्धाचार्य । एतानि पंच उपेकशगच्छाधिपा-
चार्याणां मूलनामानि । तत्पट्टे कक्कसूरि द्वादश वर्षयावत् षष्ठ तपं आचाम्लसहितं कृतवान् । तस्य स्मरणस्तोत्रेण मरोटकोटे सोमकश्रेष्ठस्य श्रृंखला श्रुतिता । तेन चितितं यस्य गुरोः नामस्मरणेन बंधनरहितो जातः एकवारं तस्य पादौ वंदामि । स भरुकच्छे आगतः । अटणवेलायां सर्वे मुनीश्वरा अटनार्थं गतास्ति । सच्चिका गुरो अग्रे स्थितास्ति । द्वारो दत्तोस्ति तेन विकल्पं कृतं । शच्यका शिक्षा दत्ता मुखे रुधिरो वमति । मुनीश्वरा आगताः । वृद्धगणेशेन ज्ञातं भगवन् द्वारे सोमकश्रेष्ठी पतितोस्ति । आचार्यैः ज्ञातं अयं सच्चिकाकृतं । सच्चिका आहूता कथितं त्वया किं कृतं । भगवन् मया योग्यं कृतं । रे पापिष्ठ यस्य गुरुनामग्रहणे बंधनानि श्रृंखलानि श्रुटितानि सन्ति स अणाचारे रतो न भविष्यति । परं एतेन आत्मकृतं लब्धं । गुरुणा प्रोक्तं कोपं त्यज शान्तिं कुरु । तया कथितं यदि असौ शान्तिर्भविष्यति तदा अस्माकं आगमनं न भविष्यति प्रत्यक्षं । गुरुणा चितितं भवितव्यं भवत्येव स सज्जकृतः । सच्चिकावचनात् द्वयोर्नाम भंडारे कृताः श्रीर-
त्नप्रभसूरि अपरश्री यक्षदेवसूरि एते सप्रभावा एतदनेहसि अस्य उपेकशगणस्य द्वाविंशति शाखा नामानि दत्तानि—

१ नागेन्द्र २ चन्द्र ३ निर्वृत्ति ४ विद्याधराणां स्थाने १ सुंदर २ प्रभ ३ कनक ४ मेरु ५ सार ६ चंद्र ७ सागर ८ हंस ९ तिलक १० कलस ११ रत्न १२ समुद्र १३ कल्लोल १४ रंग १५ शेखर १६ विशाल १७ राज १८ कुमार १९ देव २० आनंद २१ आदित्य २२ कुंभ इति । ब्रह्मः तेनैव कक्कसूरिणा अर्बुदाचलमेखलायां तृषार्तस्य संघस्य डंड स्थापनेन जलं प्रगटि कृतं । तेनैव साधर्मिक वात्सल्ये जेसलपुरात् भरुकच्छे घृतो आनीतः ।

३५ तत्पट्टे श्रीदेवगुप्तसूरि । तत्पदमहोत्सवे पाठकाः पंच स्थापिता जयतिलकादि । तेन जयति—लकेन श्रीशान्तिनाथचरित्रं निर्मितं ।

३६ तत्पट्टे सिद्ध सूरि । ३७ तत्पट्टे कक्क सूरि । ३८ तत्पट्टे देवगुप्तसूरि ।

३९ तत्पट्टे सिद्धसूरि । ४० तत्पट्टे कक्क सूरि । ४१ तत्पट्टे देवगुप्तसूरि । सं० ९९५ वर्षे बभूव ।

४२ क्षत्रीयवंशोत्पन्नत्वात् वीणावादने तत्परं क्रियाविषयं सिथिलः । ततः चतुर्विधसंघेन तत्पट्टे वीस विस्वोपकारकः स्थापितः श्रीसिद्धसूरिः ।

४३ तत्पट्टे कक्कसूरिः पंचप्रमाणग्रन्थकर्ता । ४४ तत्पट्टे संवत् १०७२ वर्षे श्रीदेवगुप्तसूरि ।

४५ तत्पट्टे नवपद प्रकरण—स्वोपज्ञटीकाकर्ता सिद्धसूरि । ४६ तत्पट्टे कक्क सूरि ।

४७ तत्पट्टे देवगुप्तसूरि । ४८ तत्पट्टे सिद्ध सूरि । ४९ तत्पट्टे कक्कसूरि ।

५० तत्पट्टे संवत् ११०८ वर्षे देवगुप्त सूरिर्बभूव । भीनमाल नगरे साह भईसाक्षेन पद महोत्सवे सप्तलक्ष धन व्ययो कृतः । ततोः गुरुणा पादप्रक्षाल्येन जले विषापहार लब्धी येन भईसाक्ष श्रेष्ठिना श्री देवगुप्त सूरिः पद महोत्सवः कृतः । स पूर्वं डिंडुवाण पूरे भईसा भार्या छगणाणि स्थाप्यते ततो गुरुपदे-शेन ज्वालितानि छगणानि रुप्यमयानि भवति ततो तेन रुप्येन गदहिया मुद्रा पातिता । भईसाक्ष माता श्री शत्रुंजय यात्रागता खरच तुट्यते पत्तन मध्ये ईश्वरश्रेष्ठिनः पार्श्वे खरचो याचिता । तेन पृष्ठं भवती कस्य माता तेन कथितं अहं भईसाक्ष माता । तेन हसितं अस्माकं गृहे पानीयमानयति तेषां माता इति वित किंतं । ततोऽनंतरं पश्चात् धनं गृहीत्वा यात्रां कृत्वा संघभक्ति कृत्वा गृहे जगाम । पुत्रेण प्रष्ट मातः मम कियद्भूमौ नामं वर्तते । माता कथितं भवतां प्रतोली द्वारं यावन्नाममस्ति । तेन वचनेन असंतोषो जातः । श्रेष्ठि हास्यवचनं कथितं । तद्वचनं वालयिष्यामि तदा द्वितीय वेला भोजयिष्यामि । एवं प्रतिज्ञां कृत्वा पत्तने सामान्यवेषे द्वार हट्टे गतः । भो श्रेष्ठि रूप्यं ग्रहिष्यासि । तेन कथितं रोषभरेण यत्किंचिदानयिष्यासि तत्सर्वं गृह्णामि । संचकारो याचितः तेन युष्माभिर्दीयते सवालक्ष मुद्रिका दत्ता । ततो गर्दभयानि भारयत्वा पत्तने जगाम । पृष्ठं एतत्किं रूप्यं वर्तते एवं श्रुत्वा श्रेष्ठिनः चमत्कृताः स श्रेष्ठि समग्र पत्तनश्रेष्ठि मेलयित्वा चरणे पपात । भईसाक्षस्तदेव कथितं गुर्जरधरीत्रीमध्ये महिषेण पानीयमानयेतुं तदा मोचयामि । तद्धनं देशे सप्तक्षेत्रे व्ययो कृतः । ततो गादिया इति शाखा जाता ।

५१ तत्पट्टे श्री सिद्धसूरि । ५२ तत्पट्टे श्री कक्कसूरि संवत् ११५४ वर्षे बभूव । येन हेमसूरि कुमारपाल वचसा कृपाहीना मुनिवरा निष्कासिता ।

५३ तत्पट्टे देवगुप्तसूरि येन लक्ष द्रव्यं त्याजितं । ५४ तत्पट्टे श्री सिद्धसूरि ।

५५ तत्पट्टे संवत् १२५२ श्री कक्कसूरिर्बभूव येन मरोट कोटः प्रगटी कृतं ।

१६ तत्पट्टे श्री देवगुप्तसूरि । १७ तत्पट्टे श्री सिद्धसूरि । १८ तत्पट्टे श्री कक्कसूरि ।
 १९ तत्पट्टे श्री सिद्धसूरि । २० तत्पट्टे श्री कक्कसूरि । २१ तत्पट्टे श्री देवगुप्तसूरि ।
 २२ तत्पट्टे श्री देवगुप्तसूरि । २३ तत्पट्टे श्री सिद्धसूरि । २४ तत्पट्टे श्री कक्कसूरि । २५ तत्पट्टे श्री देवगुप्तसूरि ।

२६ तत्पट्टे संवत् १३० वर्षे चीचट गोत्रेऽतएव उवरराय स्थापितः श्री अर्बुदाचल तल-
 हूटीकालंकारो वरणीनमस्तः शा० देशलेन श्री शत्रुंजयादि सप्त तीर्थेषु चउदश १४ कोटि द्रव्य
 व्ययेन चउदश यात्रा कृता चतुर्दश वारान् । प्रथमं देवगुप्तसूरि तत्पट्टे सिद्धसूरि प्रमुख समग्र सुवि-
 हित सूरि हस्तेन संघपति तिलकः कारितं । उक्तं च

श्री देवगुप्तः सुकृत पेसल वित्त कोटी । चंचच्चतुर्दश जगज्जनितावदातः ।

शत्रुंजय प्रमुख विश्रुत सप्त तीर्थः । यात्रा चतुर्दश चकार महामहेन ॥ १ ॥

तत्पुत्र समरसहजाभ्यां विमलवसत्युद्धारः कारितः संवत् १३७१ वर्षे । तथा एवमपरेरपि
 तिर्थयात्रा कृत्वा संघपतेः पदं स्वाकीरितं इत्युक्तमुपदेशरसाले । साह देसलेन पाल्हणपुरे श्री
 सिद्धसूरि पद महोत्सवो कृतः । तेन सिद्धसूरिणा समराग्रहेण शत्रुंजये षष्ठोद्दारे श्री आदिनाथस्य
 प्रतिष्ठा कृता ।

२७ तत्पट्टे संवत् १३७१ वर्षे साह सहजागरेण श्री कक्कसूरि पद महोत्सवो कृतः । येन
 गच्छप्रबंधः कृतः । तत्र देसल पुत्राः समर-सहजानां चरित्रमस्ति । एवं उपकेश गच्छे अनेक प्रभा-
 वका ग्रन्थकर्तारो निरीहा सूरयो अभूवन् तेषां कियद् गण्यते एवं—

२८ तत्पट्टे श्री देवगुप्तसूरि बभूवः । कवि सार्वभौम विद्वच्चक्रचूडामणि सिद्धन्तपारगामी
 सर्वशास्त्रपारंगत । श्री सारंगधरेण संवत् १४०९ वर्षे दिल्यां मध्ये पद महोत्सवो विहितः सुवर्ण-
 सहस्र पंचक व्ययेन ।

२९ तत्पट्टे श्री सिद्धसूरिः संवत् १४७९ वर्षे गुणभूरय अणहिलपाटक पत्तने चोरवेडीया
 गोत्रे साह झावा नीवागरेण पद महोत्सवः कृतः गुरुणां ।

३० तत्पट्टे संवत् १४९८ वर्षे श्री कक्कसूरयः चित्रकुटे चोरवेडीया गोत्रे साह सारंग
 सोनागर राजाभ्यां पद महोत्सवो कृतः येन चतुर्दश शत चतुः चत्वारिंशत् अधिक १४४४ कच्छ मध्ये
 अमारी प्रवर्ताविता । याम श्री वीरभद्रः प्रतिबोधितः । संस्कृतप्राकृतपरमामृतप्रवाहा विरचित
 निखिलशास्त्रावगाहाः वाणीविलासवाचस्पतितुल्याः सकलकलारंजितकोविदाः धर्मबुद्धिधुरंधरा
 सकलपुरंदरः ।

३१ तत्पट्टे सं० १९२८ वर्षे जोधपुरे श्रेष्ठि गोत्रे मंत्रीश्वर जयतागरेण श्री देवगुप्तसूरिः
 महोत्सवे नव महोत्सवो कृतः । श्री पार्श्वनाथस्य प्रासादः कारितः पौषशशालायां च । श्री शत्रुंजय
 यात्रा कृता । पंच पाठकाः स्थापिताः । तेषां नामानि श्री धनसार १ उ० देवकलोल २ उ० पद्म-
 तिलक ३ उ० हंसराज ४ उ० मतिसागर ५ ।

३२ तत्पट्टे श्री सिद्धसूरयो गुणभूरयः । श्री श्रेष्ठि गोत्रे मंत्रीश्वर दशरथात्मजेन मंत्रीश्वर
 लोलागरेण संवत् १९६९ वर्षे मेदिनीपुरे पद महोत्सवः कृतः ।

७३ तत्पट्टे श्री कक्कसूरयः श्री जोधपुरे संवत् १५९९ वर्षे गच्छाधिपो जातः श्रेष्ठि गोत्रे मंत्रि जगात्मजेन मंत्रीश्वर धरमसिंहेन पद महोत्सवो कृतः ।

७४ तत्पट्टे श्री देवगुप्त सूरयः श्री श्रेष्ठी गोत्रे मंत्रि सहसवीर पुत्रेण संवत् १६२१ मंत्री देदागरेण पद महोत्सवः कृतः ।

७५ तत्पट्टे विद्यमान संवत् १६५५ वर्षे चैत्रसुदि १३ सिद्धसूरिर्बभूव श्री श्रेष्ठी गोत्रे मंत्रि मुगुट मंत्रि शेखर सर्व विश्व विख्यात राज्यभार धुरंधर मंत्रीश्वर महामंत्रि श्री ठाकुरसिंह विक्रमपुरे महा महोत्सवेन पद महोच्छवो कृतः ।

७६ संवत् १६८९ वर्षे फाल्गुण शुद्धि ३ श्री कक्कसूरिर्बभूव । श्री श्रेष्ठि गोत्रे मंत्रि मुगुट मंत्रि ठाकुरसिंह तत्पुत्र मं० सावलकेन तत्पत्नी साहिबदेन पद महोत्सवो कृतः ।

संवत् १७२७ वर्षे मृगशिर सुद ३ दिने श्री देवगुप्तसूरिर्बभूव श्रेष्ठि गोत्रे मंत्रि ईश्वरदासेन पद महोत्सवो कृतः ।

७८ तत्पट्टे श्री सिद्धसूरि संजातः । श्रेष्ठि गोत्रे मंत्रि सगतसिंहेन पट्टाभिषेकः कृतः संवत् १७६७ वर्षे मृगशिर सुदि १० दिने जातः ।

७९ तत्पट्टे श्री कक्कसूरिर्बभूव । मंत्रि दोलतरामेन सं० १७८३ वर्षे आसाढ वदि १३ दिने पद महोत्सवो कृतः ।

८० तत्पट्टे देवगुप्तसूरि सं० १८०७ वर्षे बभूव । मुहता दोलतरामजीना पद महोत्सवो कृतः ।

८१ तत्पट्टे श्री सिद्धसूरिर्बभूव । संवत् १८४७ वर्षे महासुदि १० दिने पट्टाभिषेकः संजातः । मुं० श्री खुशालचंद्रेण पदमहोत्सवो कृतः । तेषां प्रासादात् अहं कल्पवाचनं करोमि । पुनः दीक्षा गुरुप्रसादात्

८२ तत्पट्टे श्रीकक्कसूरिर्बभूव । संवत् १८९१ रा वर्षे चैत्र सुद ८ अष्टमीदिने पट्टाभिषेकः संजातः । वैद्यमुं० ठाकुर सुत मुं० सिरदारसिंह गृहे समस्त श्रीसंघेन बीकानेर मध्ये पदमहोत्सवः कृतः ।

८३ तत्पट्टे श्रीदेवगुप्तसूरिर्बभूव । संवत् १९०५ वर्षे भाद्रवा सुदि १३ चंद्रवासरे पट्टाभिषेकः संजातः । श्रेष्ठि गोत्रे वैद्य मुहता शाखायां प्रेमराजो तस्य परिवारे हठीसिंघजी ऋषभदासजी मेघराजजी-कानां उस्संगे गृहीत्वा श्रीफिलोधीनगरमध्ये समस्त वैद्य मुहता पट्टाभिषेको कृतः । तेषां प्रासादात् अहं कल्पवाचनां करोमि ।

८४ तत्पट्टे श्रीसिद्धसूरिर्बभूव । संवत् १९३५ वर्षे माघ कृष्ण ११ दिने पट्टाभिषेकः संजातः । श्रेष्ठि गोत्रे वैद्यमुहता शाखायां ठाकुर सुत महारावजी श्रीहरि सिंघजी पद महोत्सवः कृतः वृद्ध गृहे मध्ये भांसीवाला सुरजमलजी हस्तात् समस्त श्रीसंघसहितेन विक्रम पुर मध्ये देवदुष्य रंजित छटिका राज्य द्वारात् समागता । तेषां प्रासादात् अहं कल्पवाचनां करोमि इति ॥

उपकेशगच्छीया पट्टावलिः

॥ श्रीरत्नप्रभसूरिस्तोत्रम् ॥

॥ श्रीमद्रत्नप्रभसूरिसद्गुरुभ्यो नमः ॥

वामेयपट्टे शुभदत्तनामा ताच्छिष्यजातो हरदत्तमुख्यः ॥

आर्यौबुधिः केशी स्वयंप्रभोपि सूरिशरत्नप्रभलब्धिपात्रः ॥ १ ॥

भव्यावलीकमलकाननराजभृङ्गं श्रियःप्रवृत्तिमुनिमानसराजहंसं ॥

श्रीपार्श्वनाथपदपंकजचंचरीकं रत्नप्रभं गणधरं सततं स्तवीमि ॥ २ ॥

विद्याधरैर्द्रपदबीकलितोपि कामं श्रीमत्स्वयंप्रभुगिरः परिपीय योत्र ।

दीक्षावधुमुदवहन्मुदमादधानो रत्नप्रभस्स दिशतात्कमलाविलासं ॥ ३ ॥

मुंत्री हृडसुतो भुजगेन दष्टः संजीवितः सकललोकसभासमक्षं ।

यस्याधिवारिरुहपुष्करसिंचनेन रत्नप्रभस्स दिशतात्कमलाविलासं ॥ ४ ॥

मिथ्यात्वमोहतिमिराणि विधूय येन भव्यात्मनां मनसि तिग्मरुचेव विश्वे ।

संदर्शितं सकलदर्शनतत्त्वरूपं रत्नप्रभस्स दिशतात्कमलाविलासं ॥ ५ ॥

येनोपकेशनगरे गुरुदिव्यशक्त्या कोरंटके च विदधे महती प्रतिष्ठा ।

श्रीवीरबिंबयुगलस्य वरस्य येन रत्नप्रभस्स दिशतात्कमलाविलासं ॥ ६ ॥

श्रीसत्याकाभगवतीं समभूत्प्रसन्ना सर्वज्ञशासनसमुन्नतिवृद्धिकर्त्री ।

यद्देशनारसरहस्यमवाप्य सम्यक् रत्नप्रभस्स दिशतात्कमलाविलासं ॥ ७ ॥

गृह्णन्ति यस्य सुगुरोर्गुरुनाममंत्रं सम्यक्त्वतत्त्वगुणगौरवगार्भितं ये ।

तेषां गृहे प्रतिदिनं विलसन्ति पद्मा रत्नप्रभस्स दिशतात्कमलाविलासं ॥ ८ ॥

कल्पद्रुमः करतले सुरकामधेनु—श्चितामाणिः स्फुरति राज्यरमाभिरामा ।

यस्योल्लसत्क्रमयुगांबुजपूजनेन रत्नप्रभस्स दिशतात्कमलाविलासं ॥ ९ ॥

इत्थं भक्तिभरेण देवतिलकश्चातुर्यललागुरोः

श्रीरत्नप्रभसूरिराजसुगुरोः स्तोत्रं करोति स्म यः ।

प्रातः काम्यमिदं पठत्यविरतं तस्यालये सर्वदा ।

सानंदं प्रमदेव दीव्यतितरां साम्राज्यलक्ष्मीः स्वयं ॥ १० ॥

इति ओएसनगरे सपालक्षश्रावकाः प्रतिबोधिता ओएसवालज्ञातिः स्थापिता तस्य स्तोत्रमिदं

प्रातर्व्याख्यान पद्धतौ प्रत्यहं पठनीयं ॥ संपूर्णं ॥ ग्रंथाग्रंथ ॥ ३१९ ॥ श्रीरस्तु ॥

जैन साहित्य संशोधक समिति



पेटून.

श्रीयुत हीरालाल अमृतलाल शाह. बी. ए. मुंबई.

वाईस पेटून.

श्रीयुत केशवलाल प्रेमचंद सोदी. बी. ए. एलएल. बी. वकील अमदाबाद.

श्रीयुत अमरचंद घेलाभाई गांधी, मुंबई.

सहायक.

शेठ परमानंददास रतनजी, मुंबई.

श्रीयुत मनसुखलाल रवजीभाई मेहता, मुंबई.

शेठ कांतिबाल गगलभाई हाथीभाई, पूना.

शेठ केशवलाल मणीलाल शाह, पूना.

शेठ बाबूलाल नानचंद भगवानदास श्वेरी, पूना.

सभासद.

श्रीयुत बाबू राजकुमार सिंहजी बट्टीदासजी, कलकत्ता.

श्रीयुत बाबू पूरणचंदजी नाहार. एस्. ए. एलएल. बी. कलकत्ता.

शेठ लालभाई कल्याणभाई श्वेरी, वडोदरा (मुंबई.)

शेठ नरोत्तमदास भाणजी, मुंबई.

शेठ दामोदरदास, त्रिभुवनदास भाणजी, मुंबई.

शेठ त्रिभुवनदास भाणजी जैन कन्याशाला, भावनगर.

शेठ केशवजीभाई साणेकचंद, मुंबई.

शेठ देवकरणभाई मूळजीभाई, मुंबई.

शेठ गुलाबचंद देवचंद, मुंबई.

श्रीयुत मोतीचंद गिरधरलाल कापडिया, बी. ए. एलएल बी. सोलिसिटर, मुंबई.

श्रीयुत केशरी चंदजी भंडारी, इंदौर.

शाह अमृतलाल एण्ड भगवानदास कुं० मुंबई.

शाह चंदुलाल वीरचंद कृष्णाजी, पूना.

शेठ लाधाजी मोतीलाल, पूना.

शाह धनजीभाई वखतचंद साणंदवाळा, (अमदाबाद)

शाह बाळुभाई शामचंद, तळेगाम (ठमढेरे).

शाह चुनिलाल श्वेरचंद, मुंबई.

शाह भोगीलाल चुनिलाल, सोलापुरबझार, पूना केंप.

पाली, प्राकृत, संस्कृत, गुजराती, हिन्दी भाषानां केटलांक उत्तम पुस्तको

१. प्राकृत कथासंग्रह. सं० मुनि जिनविजय (पुरातत्त्वमन्दिर ग्रंथावली) ०-१४-०
२. पाली पाठावली. " " " " ०-१३-
३. कुमारपाल प्रतिबोध (प्राकृत ऐतिहासिक ग्रंथ; गायकवाड सीरीज) " ७
४. हरिभद्राचार्यस्य समयनिर्णय (जै. सा. सं. ग्रंथमाला) ०
५. प्राकृत व्याकरण संक्षिप्त परिचय " " ०
६. सुपासनाह चरियं (प्राकृत भाषानां महान् चरित्रग्रंथ) ७
७. सुरसुन्दरी चरियं (प्राकृत भाषायां एक सुन्दर कथा) २
८. उपकेश गच्छीय पट्टावली (संस्कृत) ०
९. गुणस्थानक्रमारोह (हिन्दी भाषान्तर-विस्तृत विवेचन) १
१०. परिशिष्ट पर्व (हिन्दी भाषायां उत्तम भाषांतर) १
११. छेदसूत्राणि (आमां कल्प-व्यवहार-निशीथ नामना त्रण छेदसूत्रो बहु शुद्ध अने उत्तम पद्धतीए छपावेलं छे, जे अत्यंत दुर्लभ छे घणी थोडी नकलो छपावेली छे.) १
१२. साधुशिक्षा (सुन्दर हिन्दी भाषांतर) ...
१३. जैन धर्मानु अहिंसातत्त्व (तात्त्विक विवेचन) ...
१४. सुखी जीवन (वांचवालायक शांतिप्रद सुन्दर गुजराती पुस्तक)
१५. नयकर्णिका (उत्तम गुजराती विवेचन)

ए सिवाय, आत्म तिलक ग्रन्थ मालायां छपाएलां नानां मोटां पुस्तको जे प्रभावना होई नामनी किमते ज वेचवासां आवे छे ते पण नचिनां ठेकाणे मळे छे.

गुजरात पुरातत्त्वमंदिर,
एलीस ब्रिज,
अहमदाबाद (गुजरात)

}

भारत जैन विद्यालय,
पूना सिटी (दक्षिण).

मुद्रक—पृष्ठ १-३३ जैन साहित्य मुद्रणालय; पृ० ५७-८० चित्रशाला प्रेस; और बाकी
सब—हनुमान प्रेस, सदाशिव पेठ, पूना सिटी.—प्रकाशक चिमनलाल
एल. शाहा, भारत जैन विद्यालय, पूना शहर.